सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष : 47
अंक : 5
अगस्त 2014

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाई-22002 (आगरा) उ.प्र.

अमृत कण

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवित शैवनम्।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः।।

(चाणक्यनीति दर्पण)

अर्थात् इस चराचर जगत में लक्ष्मी (धन सम्पदा), प्राण यौवन और जीवन (आयु) – सब चलायमान और नश्वर हैं, केवल एक धर्म ही निश्चल और शाश्वत् है। जो सदा साथ रहता है और मृत्यु के बाद भी साथ जाता है। अतः सुख प्राप्ति के लिए हमें धर्म का आचरण करना चाहिए। पापाचरण कदापि नहीं।

◆◆◆

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्ठो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

(कठोपनिषद् 2/2/9)

अर्थात् जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में प्रविष्ठ एक ही अग्नि नाना रूपों में उनके समान रूपवाला सा हो रहा है, वैसे ही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपों में उन्हीं के जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है।

◆◆◆

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वारम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छाति।।

(गीता 5/29)

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर का भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियों का सुहृद् अर्थात् स्वार्थ रहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली "सिद्धयोग" नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 47 | अगस्त 2014 | अंक : 5

य: सेतुरीजानानामक्षरं
ब्रह्म यत् परम्।
अभयं नितीर्षतां पारं
नाचिकेतँ शकेमहि।।

कठोपनिषद् 1/3/2

यज्ञ करने वालों के लिए जो दुःख समुद्र से पार पहुँचा देने योग्य सेतु है, उस नाचिकेत अग्नि को और संसार समुद्र से पार होने की इच्छा वालों के लिए जो भयरहित पद है, उस अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम को जानने और प्राप्त करने में भी हम समर्थ हों।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवाई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – *योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज*	3
2.	सम्पादकीय	7
3.	श्रीमद्भागवत में योग परिचर्या – डॉ. विजय सिंह	10
4.	मेरे श्री गुरुदेव – कुँवर ए.के. सिंह	14
5.	आत्मदर्शन क्यों जरूरी है? – महात्मा आनन्द सागर जी	19
6.	गुरु गुण आई ले – जगदीश राए बंसल	21
7.	माया का गुण कर्म विभाग क्या है ? – प्रो. ऋषिराम शर्मा	22
8.	वातायनासन	32
9.	आश्रम समाचार	33
10.	जिंदगी यूँ ही गुजर जाये – श्रीमती शारदा सिसौदिया	34
11.	चित्र ! मूर्तो पासना सिद्धान्त.... – सोमनाथ त्यागी	36
12.	अध्यात्म चिन्तन – श्री सुधाकर उपाध्याय	38

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 160.00
द्विवार्षिक	: रु. 280.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 900.00

क्रिया-योग की साधना एवं उसका अमर फल

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योगदर्शन के समाधिपाद में विविध प्रकार की साधनाओं का वर्णन किया है और सब साधनायें समाधि प्राप्ति के स्तम्भ हैं किंतु कौन किस साधना का अधिकारी है इसका जान लेना भी एक कठिन सी बात है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में अधिकार – भेद का वर्णन बहुत काफी मात्रा में आता है। वस्तुतः यह ठीक भी है। अधिकार शब्द का अर्थ ही कार्यारम्भ सामर्थ्य है। जो मनुष्य अपनी योग्यता और अधिकार को देखकर कदम बढ़ाता है वह अवश्य ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया करता है। समाधि पाद समाप्त होने के बाद भगवान पतंजलिदेव ने साधनपाद के आरम्भ में ही क्रियायोग का वर्णन किया है। वस्तुतः क्रियायोग अधिकारी एवं अनाधिकारी का स्वतः ही निर्णय कर देता है। इसीलिए भगवान पतंजलिदेव जी ने क्रियायोग का वर्णन विशेष रूप से किया है। यदि किसी व्यक्ति को अनायास ही समाधि रूप उत्तम फल की प्राप्ति हो जाये तो वह उसकी कीमत को नहीं जानता है और कदाचित् उसको प्रयास करना पड़े तो वह जान जायेगा कि यह अनुपम लाभ कितनी मेहनत करने के बाद प्राप्त हुआ है। इसीलिए आवश्यकता है कि मनुष्य समाधिरूप अमर फल को प्राप्त करने के लिए यम-नियमों की साधना पूर्वक क्रियायोग को अपनाये। भगवान श्री पतंजलि देव ने अष्टांगयोग में वर्णित नियमों की तीन साधनाओं को क्रियायोग का रूप दिया है वह निम्नांकित है–

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणि-धानानि क्रियायोगः।

नातपस्विनो योगः सिद्धयति, अनादि कर्मक्लेशवासना चित्ता प्रत्युपस्थित-विषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानं, तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति-मन्यते, स्वाध्यायः त्र प्रणवादिपवित्राणं जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा, ईश्वरप्रणिधानं त्र सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।

अर्थात् जन्म-जन्मान्तर की कर्म वासना से आई अशुद्धि तप के बिना खण्डित नहीं की जा सकती, इसलिए क्रियायोग की साधना में भगवान पतंजलि देव ने सर्वप्रथम तप को ही ग्रहण किया और वह तप भी चित्त के लिए क्लेशकर नहीं होना चाहिए। जैसे आजकल के लोग विविध साधनाओं की पूर्ति के लिए कठिन पंचाग्नि तपते हैं या घोर शीतकाल में जल में बैठकर तपश्चर्या करते हैं, यह सभी साधनायें कठिन क्लेशयुक्त हैं। इसलिए तप के उस

स्वरुप को अपनाना चाहिए जिसमें मनुष्य किसी प्रकार की दिक्कत को प्राप्त न हो। जो लोग क्लेशसाध्य तप करते है उनको भगवान ने आसुरी वृत्ति के लोग कहा है जैसे–

अशास्त्रविहित घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकार संयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान्।

अर्थात् काम राग बल का सहारा लेकर दम्भ और अहकार के साथ शरीरस्थ सभी भूत समूह मन और इन्द्रियों को और अन्तः शरीरस्थ मुझको आकर्षित करते हुए जो घोर तप करते है वे लोग आसुरी भावना के है। वस्तुतः तप का प्रकार क्या है इसका वर्णन भगवान श्रीकृष्ण ने तीन प्रकार से किया है। शारीरिक तप, वाङ्मय तप और मानस तप।

शारीरिक तप–

देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।

अर्थात् देव, द्विज, गुरुदेव एवं बुद्धिमान लोगों का पूजन नम्रता, शुद्धि रखना कठिन ब्रह्मचर्य वृत का पालन करना एवं मन, वचन कर्म से किसी को भी दुःख न देना यह शारीरिक तप कहलाता है। जो परमोत्कृष्ट है।

वाङ्मय तप–

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

अर्थात् मीठा और सत्य दूसरों को हितकारी वचन बोले और स्वाध्याय का अभ्यास करे इसी को वाङ्मय तप कहा गया है। मानस तप गीताकार ने इस प्रकार बतलाया है–

मानस तप–

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो – मानसमुच्यते।।

अर्थात् मन की प्रसन्नतापूर्वक सौम्यभाव से मनोनिग्रह करते हुए अन्तःकरण की शुद्धि के लिए जो तप किया जाता है वह ठीक रूप से मानस तप कहलाता है। उसमें भी अहंकार को छोड़कर व फल की इच्छा को छोड़कर जो तप करते हैं वह तप सात्विक कहलाता है। इसके अतिरिक्त सत्कार, मान, पूजार्थ और दम्भ के लिए तप किया जाता है वह राजस तप कहलाता है। इसके अतिरिक्त मूढ़तापूर्वक कठोर आग्रह पूर्वक शरीर और मन को पीड़ा देते हुए या दूसरों को नष्ट करने के लिए जो तप किया जाता है वह तामस कहलाता

है। भगवान ने ऐसे घोर तपों को छोड़ देना ही उचित समझा है। जो मनुष्य यथार्थ में तपस्वी है वह शास्त्रोक्त फल का भागी अवश्य हो जाया करता है। भगवान पतंजलि देव तप का फल इस प्रकार लिखते हैं –

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि नाश हो जाने पर योगी को कायिक सिद्धि अणिमा, महिमा, गरिमा आदि एवं ऐन्द्रिय सिद्धि दूरदर्शन, दूरश्रवणादि अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। जिस व्यक्ति को योग के अष्टविधि ऐश्वर्य अणिमादि एवं दूरदर्शन, दूरश्रवणादि ऐन्द्रिय सिद्धियों की प्राप्ति हो जायेगी वह तो कृतकृत्य हो जायेगा। इसलिए क्रियायोग को साधना व सिद्धि के लिए तप बहुत ही आवश्यक है। उसके साथ–साथ क्रियायोग के अन्तर्गत दूसरी साधना स्वाध्याय की है। शास्त्रोक्त विधि से स्वाध्याय के दो भाग माने गये हैं –

प्रणवादि पवित्राणां जपः स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणां अध्ययनं वा स्वाध्याय।

अर्थात् प्रणव आदि पवित्र नामों का जप करना व मुक्तिदा ता शास्त्रों का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है –

स्वाध्यायाद्योगमासीत् स्वाध्यायाद्योग मामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात् स्वाध्याय के प्रभाव से साधक योग ध्यान को प्राप्त करें और ध्यानस्थ हो जाने के बाद स्वाध्याय का मनन करे। अर्थात् स्वाध्याय के ध्येय अर्थ का चिन्तन करे। स्वाध्याय और योग ध्यान से जो शक्ति–संचय होगी उसके फलस्वरूप परमात्मा का प्रकाश हो जायेगा।

स्वाध्याय के प्रकार –

स्वाध्यायशील व्यक्ति को चाहिए कि प्रथम अपने इष्टदेव के स्तोत्र का जाप करे। और स्तोत्र जाप के पाठ के अनन्तर गुरु–प्रदत्त अपने मन्त्र का वाणी से जाप करे। वाणी से दो या तीन घण्टे का जाप करे। तीन घण्टे वाणी से जाप कर लेने के बाद फिर वह मन्त्र मन में होने लगता है, और तीन घण्टे मानस जप करने के बाद फिर वह मन्त्र बुद्धि में प्रवेश कर जाता है। और मन्त्र के बुद्धि में प्रविष्ट हो जाने के बाद स्वतः ही समाधि का प्रकाश हो जाता है। इसी कारण स्वाध्याय समाधि का प्रकाशक है। योगदर्शन में स्वाध्याय का फल निम्नांकित सूत्र में लिखा है –

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

देव, ऋषयः, सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्त्तन्त इति।

अर्थात् देवता लोग, ऋषि लोग और सिद्ध लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति की आँखों के

सामने जाया करते हैं और उसके काम कर दिया करते हैं। ये स्वाध्याय का उत्तम परिणाम है। स्वाध्याय की पराकाष्ठा बढ़ जाने के बाद मनुष्य के मन में अपने आप ही प्रकाश का उदय हो जाता है। और स्वाध्याय के फलस्वरूप ज्योंही समाधि मार्ग में प्रवेश करता है तो–

सर्व द्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत।।

अर्थात् जिस समय मनुष्य के मन में एवं शरीर में, सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश की अनुभूति हो उस समय यह समझ लेना चाहिए कि पूर्ण सत्व का उदय हो गया है और सत्वोदय हो जाने के बाद सतोगुण के फलस्वरूप महाभाव का उदय हो जाता है। महाभाव में मनुष्य स्वतः ही अपने इष्टदेव को आत्मसमर्पण कर देता है। गीता में भगवान कृष्ण ने आत्म–समर्पण के भाव को समझाते हुए ये शब्द कहे हैं–

यत्करोसि यदस्नासि यज्जुहोसि ददासियत्।
यत्तपश्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्वमदर्पणम्।।

अर्थात् हे अर्जुन जो भी कुछ तुम करते हो और जो कुछ तुम खाते हो, जो कुछ तुम हवनादि करते हो और जितनी तुम तपश्चर्या करते हो वह सब कुछ मुझे सौंप दो। भगवान ने ये शब्द अर्जुन को आदेशात्मक कहे हैं किंतु सच्चा आत्म–समर्पण बिना योग के हो ही नहीं सकता और जो मनुष्य स्वाध्याय के बल से योग को प्राप्त हो जाता है और जब उसके अन्दर पूर्णरूपेण महाभाव का उदय हो जाता है तो उसको स्वाभाविक ही ईश्वर प्रणिधान हो जाया करता है और ईश्वर प्रणिधान हो जाने पर स्वतः ही समाधि सिद्ध हो जाती है पढ़िये भगवान पतंजलिदेव के शब्द और उन पर व्यासदेव जी का भाष्य –

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः यथा सर्वमीप्सितमवितथं जानाति, देशान्तरे, देहान्तरे, कालान्तरे च ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानाति।

अर्थात् ईश्वर आदि महासिद्ध है, यदि कोई व्यक्ति ईश्वर को आत्म–समर्पित करता है तो भक्ति समाधि सिद्ध हो जाती है। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि साधक को अपना जीवन उत्कृष्ट बनाने के लिए क्रिया योग का अवलम्ब लेना बहुत ही जरूरी है। इस साधना को करता हुआ साधक यदि अपने युक्ताहारविहार आदि के नियमों को पूर्णरूपेण परिपक्व रखता है तो वह अवश्य ही योग के अन्तिम निष्कर्ष समाधिरूप अमरघर को प्राप्त करता है जिसको प्राप्त करके फिर कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता है।

श्री मद्वाल्मीकि रामायण और योग

– योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

महर्षि विश्वामित्र जी के साथ सिद्धाश्रम के आसपास रहने वाले ताड़का, सुबाहु आदि समस्त राक्षसों का वध करने के पश्चात सीधे ही राम–लक्ष्मण मिथिला में राजा जनक द्वारा आयोजित धनुष यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये चल पड़ते हैं। महर्षि राजकुमारों से कहते हैं कि तुम वहाँ जाकर एक अद्भुत दिव्य दर्शन का दर्शन करोगे। इस प्रकार से वे तीनों ही मिथिलापुरी चले जाते हैं। महाकवि तुलसीदास कृत रामचरित मानस में मिथिला की ओर जाते हुये भगवान राम गौतम ऋषि की शापित पाषाण बनी अहिल्या का उद्धार करते हैं। भगवान अपने चरण का स्पर्श करते हैं और वह मूर्ति सजीव होकर देवी रूप बन जाती है। वे अनेक प्रकार से भगवान् राम की स्तुति करती हैं और दिव्य देह से अपने प्रतिलोक को चली जाती है। यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण में नहीं आया है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार महर्षि राजकुमारों को अपने साथ मिथिलापुरी ले जाते हैं। वहाँ शतानन्द आदि ऋषियों द्वारा इनका भव्य स्वागत होता है। तत्पश्चात ये यज्ञशाला में पहुँचते हैं। वहाँ महाराज जनक महर्षि विश्वामित्र से कहते हैं–

तदेतन्मुनिशार्दूल धनुः परम भास्वरम्।
यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं मुने।
सुतामयोनिजां सीताम् दद्यां दाशरथेरहम्।

महाराज जनक जी महर्षि से कहते हैं। हे मुनिश्रेष्ठ ! यह परम दिव्य शिव धनुष है। यदि श्री राम इस दिव्य धनुष को उठाकर इस पर डोरी चढ़ा देगें तो वे अपनी अयोनिज कन्या सीता का श्री राम के साथ वरण कर देंगे। राजा जनक के इन शब्दों को सुनकर महर्षि विश्वामित्र श्री राम से बोले। वत्स ! इस धनुष को देखो और इसे उठाकर इस पर प्रत्यन्चा (डोरी) चढ़ा दो। महर्षि की आज्ञा पाकर श्री राम उठे और अनायास ही धनुष को उठाकर प्रत्यन्चा चढ़ाते हुये इसके मध्य से दो टुकड़े कर दिये।

रामायण का निम्न श्लोक देखिये–

लीलया स धनुर्मध्ये जग्राह वचनान्मुने।
पश्यतां नृसहस्राणां बहुनां रघुनन्दनः।
आरोपयित्वा धर्मात्मा पूरयामास तद्धनुः।
तद्बभञ्ज धनुर्मध्ये नरश्रेष्ठो महायशाः।।

अर्थात् श्री राम ने उठकर उस दिव्य धनुष को मध्य से पकड़ लिया और हजारों

राजाओं के मध्य देखते ही अनायास डोरी चढ़ा दी और धनुष को बीच से तोड़ दिया। जबकि वहाँ बैठे राजाओं से उसे कोई उठा भी नहीं पाया था। राजा जनक इस अद्‌भुत कार्य को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुये और सीता का वरण श्री राम के लिये कर दिया। इस के पश्चात राजा दशरथ को बुला लेने के लिये दूत को अयोध्या भेज दिया और यह शुभ समाचार भी भिजवा दिया। राजा दशरथ मिथिला में पधारे। उनका बहुत प्रकार से राजकीय सम्मान किया गया। तत्पश्चात राजा दशरथ की सहमति से राम का विवाह सीता से तथा उर्मिला का लक्ष्मण से, कुमार भरत का मांडवी से तथा शत्रुघ्न का श्रुतकीर्ति से विवाह सम्पन्न हो गया। उधर शिव धनुष के टूटने की भयंकर ध्वनि को सुनकर महेन्द्र–पर्वत से आकर परशुरामजी मिथिला पुरी में राजा जनक के दरबार में आ धमके। वे श्री राम से यूँ कहने लगे–

राम दशरथे राम वीरं ते श्रूयतेऽदभुतम।
धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मयाश्रुतम्।
तच्छ्रुत्वाऽमनुप्राप्तो धनुर्गृह्य
तदिदं घोर संकाशम् जामदग्न्यं महद्धनुः।
पूरयस्व शरेणैव स्व बलं दर्शयस्व च।

अर्थात् हे दशरथ पुत्र राम! आप के अद्‌भुत शौर्यपूर्ण कार्यो के विषय में मैंने सुन लिया है। शिव धनुष भंग की बात भी मैंने सुन ली है।

अब यदि आप मेरे इस भयंकर टंकार वाले धनुष पर बाण चढ़ा लोगे तो मैं तुम्हारे बल–पौरुष को जान जाऊँगा। महर्षि की इन बातों को सुनकर श्री राम ने धनुष को उठाकर इसे झुकाकर बाण सन्धान कर भयंकर टंकार किया। इस अद्‌भुत कार्य को देखकर परशुराम जी अति विस्मित हो गये, क्योंकि ऐसा कार्य करना साधारण मानव के वश की बात नहीं थी। महर्षि परशुराम जी आश्चर्य युक्त होकर बोले–

तेजोभिहतवीर्यत्वाज्जाम दग्न्यो जड़ीकृतः
राम कमल पत्राक्षं मन्द मन्दमुवाच ह
अक्षयं मधुहन्तारम्, जानामि त्वां सुरोत्तम्।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परन्तप।

अर्थात् राम के तेजपूर्ण इस अलौकिक कार्य को देखकर महर्षि मन्द–मन्द वाणी में कहने लगे। हे राम! जिस प्रकार से आप ने इस दिव्य धनुष को पकड़कर झुका लिया है इस से मैं निश्चय ही आप को मधु कैटभ के शत्रु भगवान् विष्णु ही मानता हूँ। हे शत्रुओं का नाश करने वाले आप की सदा जय हो। आप ने मेरे इस धनुष पर बाण चढ़ा लिया है, सो कृपा कर इसे हटालें। हे त्रैलोक्य नाथ! मुझे क्षमा करें। मैं अब महेन्द्र पर्वत की ओर प्रस्थान कर रहा हूँ।

उपर्युक्त श्लोकों का अंग्रेजी भाषा में रूपान्तरण देखिये।–

The son of Jamdagni, with his valour overpowered by the superior effulgence (of Rama) became stunned and spoke slowly in halting tones to the lotus petal-eyed Rama. " From the way in which thou hast handled this bow, I know thee to be foremost of celestials, the indestructible, and the slayer of the demon madhu. Hail to thee! O vanquisher of foes. I beloveth thee to release this peerless arrow. o, Lord of the three worlds, I should be humbled. On its release, I shall proceed to Mahendra the best of mountains."

श्री रामचरित मानस में तुलसीदास जी ने धनुष-यज्ञ के समय परशुराम जी और लक्ष्मण का संवाद दिखाया है। वे एक दूसरे पर वाणी का प्रहार करते हुये दिखाये गये हैं जबकि वाल्मीकि रामायण में लक्ष्मण का परशुराम जी का कोई संवाद नही हुआ है।

सन्त तुलसीदास जी ने इस संवाद के समय श्री राम का बहुत सुन्दर व विनीत चरित्र दिखाया है। महर्षि के अत्यन्त कुपित हो जाने पर श्री राम उनसे कहते है-

नाथ शम्भु धनुभन्जनहारा होइहि केउ दास तुम्हारा' । हे महर्षि ! आप क्रोध न करें। इस शिव धनुष को तोड़ने वाला तुम्हारा कोई दास ही है। यह धनुष तो हमारे स्पर्श मात्र से ही टूट गया है।' बाद में परशुराम जी को श्री राम की शक्ति एवं वास्तविकता का ज्ञान होता है और वे क्षमा माँगते हुये वापिस लौट जाते हैं।

आत्म विश्वास अर्थात् स्वयं अपने में विश्वास करना, एक कला है जो निरन्तर के अभ्यास से प्राप्त होती है। आत्म विश्वास से परिपूरित व्यक्तित्व स्वयं को दूसरों की दृष्टि चाल-ढ़ाल, बोलचाल, मुस्कुराने, कार्य-कलाप, चिन्तन-मनन में प्रतिक्षण जागरूक रहने तथा स्वच्छता अपनाने से आत्म विश्वास की उपलब्धि होती है। यही सफल जीवन की कुंजी है।

श्रीमद्भागवत में योग परिचर्या

– डॉ. विजय सिंह

वैराग्य से युक्त चित्त वाले विदुर जी ने महात्मा मैत्रेय से सृष्टि उत्पत्ति? कर्मो के फल आदि से संबंधित अनेक प्रश्न किये। मैत्रेय जी जानते थे कि यह विदुर जी और कोई नहीं लोकपाल यमराज के अंशावतार हैं। तृतीय स्कन्ध के आठवें अध्याय में सनत्कुमारों द्वारा भगवान संकर्षण से भागवत सम्बंधी ज्ञान वार्ता को निमित्त बनाकर मैत्रेय जी ने विदुर जी को उपदेश दिया है। यहाँ किसने किसको भागवत ज्ञान दिया उसका उल्लेख भी किया गया है। सनत्कुमार ने आगे सांख्यायन मुनि को, इन्होंने श्री परासर जी को और बृहस्पति जी को सुनाया। श्री परासर जी द्वारा मुझे (मैत्रेय जी) भागवत ज्ञान प्राप्त हुआ है।

इस अध्याय में भी कमोवेश सृष्टि उत्पत्ति की कथा पहले वर्णित रूप में किया गया है। ब्रह्मा जी अपने उत्पत्ति कारण को प्राणवायु जीतकर चित्त को निःसङ्कल्प किया और समाधि में स्थित हो गये। दिव्य सौ वर्ष तक अच्छी तरह योगाभ्यास करने पर ब्रह्मा जी को अपना ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने को पहले खोजने पर नहीं देख पाये थे अब समाधि द्वारा अन्तःकरण में अपने को प्रकाशित होते देखा।

शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो, न्यषीददारूढ़ समाधि योगः।। 21।।

तथा–कालेन सो अजः पुरुषायुषाभि–प्रवृत्तयोगेन विरूढ़बोधः ।। 22।।

स्कन्ध तीन के नवें अध्याय में ब्रह्मा जी द्वारा भगवान की स्तुति की गयी है। इसमें भी योगमहत्ता की प्रधानता वर्णित है। ब्रह्मा जी ने कहा–प्रभो! आपने मेरे हित के लिये ही मुझे ध्यान में अपना यह रूप दिखाया है। **"ध्यानेस्म नो दर्शितं त उपासकानाम"**। इस प्रकार तप, योग, समाधि के द्वारा अपने उत्पत्तिस्थान श्री भगवान को देखकर ब्रह्मा जी ने नाना प्रकार से स्तुति किया। **"स्वसम्भवं निशाम्यैवं तपो विद्या समाधिभिः"**।

भगवान ने श्री ब्रह्मा जी को आज्ञा दिये कि त्रिलोकी को तथा जो प्रजा इस समय मुझे में लीन है, उसे तुम पूर्व कल्प के समान रचो। भगवान ने कहा–विधाता तत्ववेत्ताओं का मत है कि पूर्त, तप, यज्ञ, दान, योग और समाधि आदि साधनों से प्राप्त होने वाला कल्याणमय फल, मेरी प्रसन्नता ही है –

पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगसमाधिना।

राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्।।

– स्कं 3, अ. 9.

तीसरे स्कन्ध के दसवें अध्याय में दस प्रकार की सृष्टि का वर्णन किया गया है। काल

स्वयं अनादि, अनन्त एवं निर्विशेष है परन्तु वह विषयों का रूपान्तरण करता रहता है। पहली सृष्टि महत्तत्व , दूसरी सृष्टि अहंकार, तीसरी सृष्टि भूतसर्ग (पंच तन्मात्रायें), चौथी सृष्टि इन्द्रियों की, पांचवी सृष्टि देवताओं की, छठी सृष्टि अविद्या जो जीव के बुद्धि पर आवरण और विक्षेप करने वाली है। सातवी सृष्टि स्थावरों की, आठवीं सृष्टि तिर्यग्योनियों (पशु–पक्षी),नवीं सृष्टि मनुष्यों की है। दसवी सृष्टि सनत्कुमार आदि ऋषियों की है, यह प्राकृत–वैकृत दोनों है।

ग्यारहवें अध्याय में काल विभाग, मन्वंतरों का वर्णन किया गया है। श्री विदुर जी ने मुनि मैत्रेय से कहा–प्रभो! आप काल की गति को भली भाँति जानते है; क्योंकि ज्ञानी लोग अपनी योगसिद्ध दिव्य दृष्टि से सारे संसार को देख लेते हैं –

भगवान वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा ।।17।।

– स्क.3, अ.11

दिव्य दृष्टि सम्पन्न महर्षियों ने बिना किसी भौतिक साधन के गहरायी से काल का निरूपण किया है। मैत्रेय जी ने विदुर को बताया– देखो काल परमाणु जैसी सूक्ष्म अवस्था में भी व्याप्त है अतः वह अति सूक्ष्म है तथा सृष्टि के प्रारम्भ से प्रलय तक सभी अवस्थाओं का भोग कर्ता है।

दो परमाणु मिलकर एक अणु होता है और तीन अणुओं से एक त्रसरेणु बनता है। सूर्य के किरण को ऐसे तीन त्रसरेणुओं को पार करने में जो समय लगता है उसे " त्रुटि " कहते हैं। त्रुटि का सौगुना समय ' वेध ' कहा गया है। तीन वेध का एक ' लव ' होता है। तीन लव का एक 'निमेष' और तीन निमेष को एक 'क्षण' कहते हैं। पाँच क्षण की एक ' काष्ठा' और पन्द्रह काष्ठा का एक ' लघु'। पंद्रह लघु की एक 'नाडिका' या 'दण्ड' कही जाती है। दो नाडिका का एक मुहूर्त। इसी प्रकार प्रहर या याम कहा गया है जो मनुष्य के दिन अथवा रात्रि का चौथा भाग है। दिन रात चार–चार पहर के होते हैं। पन्द्रह दिन–रात्रि का एक पक्ष। शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष का एक मास। यह पितरों का एक दिन–रात्रि है। दो मास का एक ऋतु। 6 मास का एक अयन। दक्षिणायन एवं उत्तरायण मिलकर मनुष्य का एक वर्ष तथा देवताओं के एक दिन–रात्रि होते हैं।

सत्ययुग सम्पूर्ण संध्या एवं सन्ध्यांश को लेकर 4800 दिव्य वर्ष के होते हैं। त्रेता 3600 दिव्य वर्ष। द्वापर 2400 दिव्य वर्ष और कलियुग 1200 दिव्य वर्ष है। मनुष्य के वर्षों में कलियुग का मान 43,32,000 वर्ष होते हैं।

विदुर जी प्रधानादि समस्त कारणों का कारण अक्षर ब्रह्म में करोड़ों ब्रह्माण्डराशियाँ हैं। जिस कल्प में हम हैं यह वाराह कल्प का दूसरे परार्द्ध का आरम्भ बताया गया है। ब्रह्मा जी के आधे आयु को परार्ध कहते हैं।

बारहवें अध्याय में पुनः सृष्टि के विस्तार पर कई दृष्टिकोणों से वर्णन किया गया है।

योग, तप की महत्ता तथा ब्रह्मा जी के मानस सृष्टि की कथा कही गयी है।

तेरहवें अध्याय में वाराह अवतार की कथा मैत्रेय जी ने विदुर जी को विस्तार से सुनाया है।

चौदहवें अध्याय में माता दिति के गर्भ से दैत्यराज हिरण्याक्ष एवं हिरणमस्यपु की कथा कही गयी है।

पन्द्रहवें अध्याय में भगवान विष्णु पार्षद जय-विजय को सनकादि ऋषि द्वारा श्राप और वे ही दिति के गर्भ से परम दुर्धष हिरणयाक्ष एवं हिरणकश्यपु रूप में जन्म लेने की कथा कही गयी है। इस अध्याय के प्रारम्भ में योग की महत्ता के श्लोक हैं –

ये त्वानन्येन भावेन भावयन्त्यात्म भावनम्।
आत्मनिं प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम् ।। 6।।

– *स्कं. 3, अ. 15*

तेषां सुपकयोगानां जितश्वासेन्दियात्मनाम्।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभव ।। 7।।

– *स्क. 3, अ. 15*

दिति के गर्भ में सौ वर्षो तक श्रापित जय-विजय भगवान विष्णु पार्षद पड़े रहे। उस दिशा में लोक अव्यवस्थित होने लगा तब देवताओं ने श्री ब्रह्मा जी से जाकर प्रार्थना किये – भगवन! आप में सम्पूर्ण भुवन स्थित है, कार्य-कारण रूप यह प्रपंच ही आपका शरीर है और आप इससे परे भी हैं। जो आपका ध्यान करते हैं, उन सिद्ध योगियों का कभी किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। आपकी उन पर कृपा दृष्टि रहती है। वे योगी, प्राण, इन्द्रिय और मन को जीत कर पूर्ण योग में प्रतिष्ठित होते हैं।

भगवत् दर्शन की लालसा से एक बार सनकादि मुनि विश्व गुरु हरि के दिव्य और अम्द्‌भुत वैकुण्ठ धाम में अपने योग बल से पहुँचे। उन्हे वहाँ जाकर बड़ा ही आनन्द हुआ –

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं
दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्य विमान रोचिः।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग
मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ।। 26 ।।

– *स्कं. 3 अ. 15*

वैकुण्ठ द्वार पर जय-विजय द्वारा बाधित होने पर सनकादि ऋषियों द्वारा राक्षस होने का श्राप एवं प्रार्थना करने पर स्वयं भगवान द्वारा वध करके मोक्ष लाभ की कथा वर्णित है। भगवान विष्णु ने मुनियों का सत्कार किया और उनके द्वारा दिये गये श्रापानुग्रह का अनुमोदन किया। इसके साथ ही मुनियों ने भावपूर्ण हरि की स्तुति किया जिसमें योगैश्वर्य एवं भक्ति योग

की महत्ता प्रगट हुई है –

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गे –
ध्यानास्पदं बहु मतं नयनाभिरामम्।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानम नन्य सिद्धै –
रौत्पत्तिकैः समगृणन् युतमष्ट भोगैः ।। 45 ।।

– स्कं. 3, अ. 15

हे हरि! स्वाभाविक अष्ट सिद्धियों से सम्पन्न आपका यह साकार विग्रह योगमार्ग द्वारा मोक्ष पद की खोज करने वाले साधकों के लिये ध्यान का सर्वोत्तम विषय है।

हम आपको साक्षात् परमात्मतत्व ही जानते हैं। आप अपने विशुद्ध सत्वमय विग्रह से भक्तों को आनन्द देते हैं। आपकी इस सगुण विग्रह को राग एवं अहंकार से युक्त मुनिजन आपकी कृपा से ही अपने हृदय में देख पाते हैं –

तं त्वां विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं
सत्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्त मेषाम्।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढ़भक्तियोगै–
रुदग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ।। 47 ।।

– स्क. 3, अ. 15

" तुम जो कुछ दोगे, वही तुम्हें एक बीज के असंख्य फलों की भाँति बहुत बड़े परिमाण में वापस मिल जायगा। अतः सुख चाहते हो तो सुख दो, प्रेम चाहते हो तो प्रेम का दान करो, हित चाहते हो तो सबके हित की बात सोचो, सम्मान चाहते हो तो सबका सम्मान करो, सद्गुण चाहते हो तो सद्गुणों का दान करो और संसार में शान्तिपूर्वक रहकर अन्त में अनन्त शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो जिससे जगत् के जीव शान्ति से रह सकें– सहज ही शान्ति को प्राप्त कर सकें ऐसे ही कर्मों का अनुष्ठान नित्य करते रहो। (तुम्हारा कल्याण अवश्यंभावी है।) "

मेरे श्री गुरुदेव

– ' कुंवर ' ए. के. सिंह, कछवा, मीरजापुर

योग दर्शन के प्रणेता प्रातः स्मरणीय भगवान पतंजलि देव महाराज जी ने समाधिपाद के 26वें सूत्र में ईश्वर की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि –

" पूर्वेपामापि गुरुः कालेनानवच्छेदात्: "

अर्थात् वह " ईश्वर " पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मदिकों का भी उपदेष्टा या " गुरु " है। तथा वह काल से परिच्छिन्न नहीं है। अर्थात् वह " सद्गुरु " ऐसा नहीं है जो किसी काल में हो और किसी काल में न हो। वह सदैव है और सदैव रहेगा। अतः इस आदि " सद्गुरु–सत्ता " को हमें कभी भी विस्मरण नहीं करना चाहिए।

यही " सद्गुरु सत्ता " सर्व व्यापी होने के कारण हम सबके हृदय में भी मौजूद रहती है। अतः हमें क्षण–क्षण उसका ध्यान, जप, तप, आदि इसीलिए करते रहना चाहिए कि वह हमारा सच्चा पथ–प्रदर्शक है। भगवान व्यास देव जी महाराज को श्रद्धा से स्मरण करने के लिए उनके प्रति कृतज्ञता–ज्ञापन के लिए हमारे मनीषी पूर्वजों ने " गुरु पूर्णिमा " को " व्यासपूर्णिमा " के नाम से भी प्रसिद्ध किया। भगवान पातजलिदेव महाराज के योग सूत्रों पर भी श्री व्यासदेव महाराज ने अपनी व्याख्या कर उसे और भी सुलभ एवं सुबोध बना दिया। " गुरु पूर्णिमा " का पावन पर्व ऐसे ही विश्व विश्रुत, ऋषियों, मनीषियों और " श्री सद्गुरुदेव भगवान " के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का पर्व है। योगमार्ग के अनुगामियों को गुरु शरणागति साधक को स्वस्थ और सबल बनाकर आध्यात्मिक उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचा देती है। और श्री सद्गुरु शरणागति ही उन्नति की ऊँची से ऊँची चोटी पर पहुँचे कर फिर साधक को गिरने और फिसलने का कोई खतरा नहीं रहता। इसीलिए ही तो श्री गुरु पूर्णिमा के पावन पर्व पर श्री सद्गुरु की, सद्गरु चरनन की और श्री सद्गुरु शरण में जाने की अपनी अलग महत्ता है।

जगदम्बा माँ पार्वती भोलेबाबा से प्रश्न करती हैं कि –

केन मार्गेण भो स्वामिन् देही ब्रह्म मयो भवेत्।
त्वं कृपां कुरुमे स्वामिन् नमामि चरणौ तव।।

अर्थात् हे स्वामिन आप मुझे यह बताने की कृपा करें कि किस मार्ग पर चलकर जीव ब्रह्म स्वरुप को प्राप्त करता है, हे स्वामी! आप मुझ पर कृपा करें, मैं आपके चरण–कमलों में प्रणाम करती हूँ। भगवान साम्ब सदाशिव कहते हैं –

दुलर्भ चिसु लोकेपु तत् श्रृणुष्व वदाम्यहम्।
गुरुं बिना ब्रहम नान्यत् सत्यं सत्यं वरानने।।

अर्थात् हे महादेवी , यह प्रश्न किसी ने पहले नहीं किया, मैं जो उत्तर कहता हूँ, वह तीनों

लोकों में अत्यन्त दुर्लभ है, परन्तु इसे मैं अवश्य कहूँगा आप सुनें, श्री सद्गुरु के सिवाय कोई ब्रहन नहीं है, हे महादेवि यह सत्य है, सत्य है।

अतः भगवान आशुतोष का यह कहना कि गुरु ही ब्रह्म है, यह संक्षिप्त कथन बड़ा ही सारभूत है। इसे साधक शिष्य ही बड़े की भावनाओं की गहराई से समझ सकता है। जो "शिद्गुरु तत्व " को समझ सका वही ब्रह्मत्व का भी साक्षात्कार कर पायेगा। श्री सद्गुरु कृपा से जिसे दिव्य दृष्टि मिल सकी, वही ब्रह्म का दर्शन करने में सक्षम हो पायेगा।

आगे भगवान भोले नाथ कहते है – सद्गुरु की कृपा दृष्टि के अभाव में –

वदे शास्त्र पुराणानि इतिहासादि कानि च।
मंत्र यत्रादि विद्याश्च स्मृतिरुच्चाटनादिकम्।।
शैवशाक्ता गमा दीनि अन्यानि विविधानि च।
अपभ्रंश कराणीह जीवानां भ्रान्तचेतसाम्।।

अर्थात् वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, स्मृति तंत्र, यन्त्र, उच्चाटन आदि विधाएँ, शैव–शाक्त आदि विधाएं शिष्य के चित्त को भ्रमित करने वाली सिद्ध होती हैं। इसलिए विद्या के व्यावहारिक ज्ञान को समाहित करने हेतु 'गुरु' की आवश्यकता हैं। गुरुओं के भी परमगुरु भगवान सदाशिव का तत्व यही कि गुरुतत्व की अनुभूति पाए बिना जिन्दगी की मूढ़ता किसी भी दशा में दूर नहीं होगी। इन सब चीजों हेतु भवसागर से पार करने के लिए अत्यन्त आवश्यक तत्व " श्री सद्गुरु " की अत्यन्त आवश्यकता है।

यही नहीं – आगे भगवान शिव कहते हैं–

सर्वपापविशुद्धात्मा श्री गुरोः पादसेवनात्।
देही ब्रह्मभवेद यस्मात् त्वत्ः कृपार्थ वदामि ते।।

अर्थात् सद्गुरु के चरणों की सेवा से साधक सारे पापों से मुक्त होकर विशुद्धात्मा, हो जाता है। भगवान माँ पार्वती से कहते है कि यही नहीं, मैं तुम्हें कृपापूर्वक बता रहा हूँ देहधारी जीव ब्रह्मभाव को उपलब्ध हो जाता है।

श्री सद्गुरु की शरणागति ही उनकी भक्ति है। भक्ति का सार है और श्री गुरुदेव की 'गुरुगीता' उनकी श्री सद्गुरुदेव की भक्ति की गंगोत्री है। श्री गुरुगीता में गुरुदेव की महत्ता की प्रभाहित होने वाली गुरुभक्ति की गंगा की तरंग जब सद्शिष्यों के जन्म–जन्मांतरण के पापों का शमन होता हैं। यही " श्री सद्गुरु महिमा " की " श्री गुरुगीता " रूपी गंगा असंख्य शिष्यों के त्रिविध तापों को शान्त करती है।

भगवान श्री सम्ब सदाशिव माँ पार्वती से कहते हैं कि–

न मुक्ता देवगंधर्वाः पितरो यक्ष किन्नराः।
त्रटषयः सर्वसिद्धाश्च गुरु सेवा पराङ्म मुखाः।।

ध्यानं श्रृणु महादेवि सर्वानन्द प्रदायकम्।

सर्वसौख्यं करं नित्यं भुक्ति–मुक्ति विधायकम्:।।

अर्थात् हे देवी! देव वे या गन्धर्व, पित्तर, यक्ष, किन्नर सिद्ध अथवा ऋषि कोई भी हो, गुरुसेवा से विमुख होने पर उन्हें कदापि मोक्ष नहीं मिल सकता है। अतः हे देवि! सुनो श्री गुरुदेव का ध्यान सभी तरह के आनन्द का प्रदाता है। यह सभी सुखों को देने वाला है। यह सांसारिक सुख भोगों को देने के साथ मोक्ष को भी देता है। बस सच्चे सद्शिष्य को करना क्या चाहिए –

श्री मत्परब्रह्म गुरुं स्मरामि।

श्री मत्परब्रह्म गुरुं वदामि।।

श्री मत्परब्रह्म गुरुं नमामि।

श्री मत्परब्रह्म गुरुं भजामि:।।

अर्थात् उस सदशिष्य को यह संकल्पित रहना चाहिए कि मैं श्री गुरुदेव का स्मरण करुँगा, श्री गुरुदेव की स्तुति–कथा कहूँगा, परब्रह्म की चेतना स्वरूप श्री गुरुदेव की वाणी, मन एवं कर्म से सेवा आराधना करुँगा। क्योंकि–

ब्रह्मानन्द परम सुखदं केलमू ज्ञानमूर्तिः।

द्वन्दातीत गगन सदृशं तत्त्वमस्याहि लक्ष्यम्।।

एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षि भूतं।

भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि।।

अर्थात् श्री गुरुदेव ब्रह्मानन्द का परम सुख देने वाली साकार मूर्ति है, वे द्वन्दातीत चिदाकाश है, तत्त्वमासि आदि श्रुति वाक्यों का लक्ष्य यही है वे श्री सद्गुरु एक नित्य, विमल, अचल एवं सभी कर्मों का साक्षी रूप है। श्री सद्गुरुदेव भगवान सभी भावों से परे, प्रकृति के तीनों गुणों से सर्वथा रहित है उन श्री सद्गुरुदेव को बारम्बार भावपूर्ण नमन है।

श्री सद्गुरु कृपा निकेतन की एक घटना– सन् 1967 की घटना है, श्री अनन्त विभूषित सद्गुरु देव भगवान का कार्यक्रम मीरजापुर जिला अन्तर्गत कछवा– बरैनी मण्डल में नियत था। कछवा मण्डल के वरिष्ठ गुरुभाई श्री सुरेन्द्र बहादुर सिंह वही इण्टर कालेज में शिक्षण कार्यरत थे। श्री गुरुदेव भगवान की कछवा कार्यक्रम की तैयारी जोर शोर पर थी, क्योंकि श्री गुरुदेव भगवान की शोभायात्रा बड़ा ही मनमोहक होता था। श्री महाराज जी कछवा रेलवे स्टेशन पर आकर वहाँ से शोभायात्रा रूप में कछवा का कार्यक्रम होता था। श्री सुरेन्द्र बहादुर सिंह चाचाजी के मन में बड़ा ही उत्साह था कि श्री महाराज जी ट्रेन से उतरेंगे, माल्यार्पण करुँगा, चरण दर्शन करुँगा इस तरह की कल्पनाएँ उभर रही थी। और श्री सुरेन्द्र बहादुर सिंह चाचा जी कीर्तन को बड़े ही मार्मिक ढ़ंग से एवं सद्गुरु महिमा का वर्णन कीर्तन रूप से गा–गाकर सुनाते हैं। इस तरह की तरंगें मन मे आ रही थी, बस श्री सद्गुरु चरणों की दर्शन की उमंग थी। इसी

बीच जब श्री मास्टर साहब अपने विद्यालय से घर पहुँचे तो देखा कि इनके पिताजी जो लगभग उस समय 83 वर्ष के थे, मृत्यु शैय्या पर पड़े अन्तिम सांसें चल रही है। ऐसी स्थिति देखा एवं अवाक् रह गये। श्री मास्टर साहब के बड़े भाई साहब ने बताया कि बस अब अधिक से अधिक एक दो दिन के मेहमान हैं। क्योंकि लकवा भी मार दिया है। श्री मास्टर साहब बड़े ही दुखी हुए कि श्री पिताजी की यह स्थिति हो गई। और उधर मेरे आराध्य श्री सद्गुरु भगवान का कछवा में पदार्पण होने वाला है। अगर श्री पिताजी मृत्यु की गोद में चले जाते हैं तो सूतक लग जाने से श्री सद्गुरु चरणों का स्पर्श एवं दर्शन मुश्किल हो जायेगा। दूसरे दिन श्री गुरुदेव भगवान का आगमन का दिन था इधर श्री पिताजी की हालत और दयनीय, बोलना भी बन्द हो गया। हिलना–डुलना तो पहले से ही बन्द था यद्यपि श्री मास्टर साहब के पिताजी भी एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। प्रत्यक्ष देखने पर लगता था कि बस अब कुछ ही समय का खेल है। क्योंकि अन्तिम सांसें चल रही थी, सभी लोग चारपाई से नीचे उतार दिये। उस समय दोपहर के दो–ढाई बजे रहे थे। उधर श्री महाराज जी का आगमन चार बजे कछवा स्टेशन पर होना था। इस बीच मास्टर साहब अपने को रोक नहीं पाये और यथा शीघ्र स्टेशन पर पहुँचे गये। कछवा स्टेशन पर गाड़ी से श्री महाराज जी का मुख–मण्डल दिखलाई पड़ा, गगन भेदी स्वर में जय–जयकार होने लगे। सौभाग्य से श्री मास्टर साहब ने श्री महाराज जी के गले में माला डाली। और आर्तभाव से श्री चरणों में शीश झुका ली। उस समय अन्यान्य शिष्यगण मालार्पण कर रहे थे, श्री महाराज जी कर कमलों से आशीर्वाद दे रहे थे किन्तु उनका ध्यान दृष्टि थी शून्य आकाश पर कुछ क्षणोपरान्त श्री महाराज जी की दृष्टि श्री मास्टर साहब पर पड़ी और उस समय श्री मास्टर साहब अन्तार्मन से यही निवेदन कर रहे थे कि हे अर्न्तयामी प्रभो बस आपके कछ्वा प्रवास काल तक श्री पिता जी का शरीरान्त न हो, क्योंकि लौकिक मर्यादा में श्री चरणों के दर्शन से वंचित हो जाऊँगा। बस प्रभो तत्पश्चात कछवा स्टेशन से खूब खुशी–खुशी श्री महाराज जी का काफिला कछवा नगर में पहुँचा। खूब गगनभेदी जय–जयकार, तोरण द्वार, बैण्ड बाजे, ऊँची–ऊँची पताकाओं के बीच आनन्द कन्द श्री महाराज जी का पुष्पक विमान दृश्य मनमोहक हीन इसी बीच तुरन्त श्री मास्टर साहब बड़े ही कौतूहल से पूछा अरे पिताजी को छोड़कर आप भी यहाँ? मास्टर साहब के बड़े भाई भी भीड़ में दिखाई पड़ गये, मास्टर साहब ने बड़े भाई बड़ी खुशी में बोले कि कोई बात नहीं पिताजी में आश्चर्यजनक परिवर्तन लगभग चार बजे हुआ, अचानक बोल पड़े अरे मुझे ऊपर चारपाई पर लिटाओं एवं गीता का पाठ सुनाओं। गीता का अध्याय समाप्ति पर बोले अरे श्री गुरुजी की सवारी कछवा आ गई है तुम सब भी जाओ, दर्शन करके आओ। बस हम भी आ गये।

पुन: शोभयात्रा के पश्चात दोनों भाई अपने घर वापिस रात में आये। पुन: देखा पिताजी चेतना शून्य। वाणी बन्द। सांस चल रही है। दूसरे दिन पुन: श्री गुरुदेव भगवान के दर्शन कर श्री मास्टर साहब ने श्री चरणों में प्रार्थना की, हे प्रभो ! जब तक आप यहाँ रहें मेरे पिताजी जीवित

रहें, जिससे मैं आपके चरण दर्शन करता रहूँ। इतना सुन श्री महाराज जी ने कहा लल्ला! क्या चाहते हो ? श्री मास्टर साहब ने अपनी प्रार्थना दुबारा दोहरा दी। तब श्री गुरुदेव भगवान ने स्पष्ट कहा कि लल्ला! जब तुम चाहोगे तभी बुड्ढा इस संसार से जायेगा! और अब से उस बुड्ढे को किसी भी प्रकार का शारीरिक कष्ट नहीं होगा।

श्री गुरुदेव भगवान द्वारा यह आश्वासन पाकर श्री मास्टर साहब निश्चिन्त हो गए। आकर घर पर सभी को स्पष्ट श्री महाराज जी की वाणी को बता दिया। तीन दिन तक इसी तरह चलता रहा। चौथे या पांचवे दिन इनकी माता जी बोली बेटा जाकर श्री गुरुजी को बता दो अगर इन्हें जाना ही है तो जाने दें क्योंकि मुझे भी कष्ट हो रहा है तथा बड़े भाई ने भी कहा तुम तो दिन में कालेज रहते हो, झेलना एवं देखभाल तो मुझे करना पड़ता है। इस तरह की वार्तालाप के पश्चात श्री मास्टर साहब श्री महाराज जी के चरणों में पहुँचे। तथा माताजी एवं बड़े भाई की बातों को श्री चरणों में निवेदित किया। परन्तु श्री अन्तर्यामी गुरुदेव जो काल को भी वश में किए है बोले कि लल्ला! तुम क्या चाहते हो श्री मास्टर साहब ने कहा कि हे महाराज जी जो माताजी एवं बड़े भाई चाहते है वही मैं भी चाहता हूँ, ऐसी आप कृपा करें।

श्री मास्टर साहब के मुँख से ऐसी प्रार्थना निकलते ही करुणालय श्री महाराज जी अखिल ब्रह्माण्ड नायक श्रीप्रभुजी ने पास पड़े कुछ फूलों को उठाकर श्री मास्टर साहब को देते हुए कहा कि लल्ला लो, तुम जब ये पुष्प पखुड़ियों को उस बुड्ढे के मुँख पर रख दोगे तो वह बुड्ढा शान्ति पूर्वक बिना किसी कष्ट के चला जायेगा।

जब श्री महाराज जी का आशीर्वाद लेकर मास्टर साहब घर आये, घर पर ये बातें बताई तो किसी को इस तरह की बात पर विश्वास नहीं हुआ कि ऐसा कैसे हो सकता है, असम्भव है। श्री मास्टर साहब घर के सभी सदस्यों से बोले सब नहा धोकर खा – पी लो, फिर श्री महाराज जी का प्रसाद पिता जी को दूँगा। घर एवं अन्य आसपास के लोग देखने एकत्रित हो गए। फिर घर के आंगन में कुश बिछाकर पिताजी को लेटाकर पिताजी के ओंठ बन्द थे श्री प्रभुजी का नाम लेकर पुष्प पंखुड़िया ओठ पर रख दी। देखते ही देखते दिन के बारह बज रहे थे। ठीक दस–पन्द्रह मिनट पश्चात इनके पिताजी के नाभि प्रदेश में कम्पन हुआ और श्वांस, गति तेज हुई मुँखमण्डल ओठ खुल गए, पुष्प पंखुडिया मुँख के अन्दर अपने आप चली गई, आँखे खुल गई। ओठ बन्द हो गये, और श्वास बन्द हो गई। यह एक गृहस्थ श्री सद्गुरु चरणों में विलीन हो गया। इसलिए कहा गया है कि –

गुरु बिनु भव निधी तरइ न कोई। जो बिरंचि संकर सम ठोई।।

अर्थात् ब्रह्मा एवं शिव की भाँति समर्थ होने पर भी श्री सद्गुरु देव का आश्रय पाएं बिना इस भव सागर को कोई पार नही कर सकता है। **अर्थात्** साधक गणों को यह जान लेना है कि ' अध्यात्म तत्त्व गुरु गम्य है।'

आत्म दर्शन क्यों जरूरी है?

– महात्मा आनंद सागर जी

दुनिया मे प्राय: ऐसे लोग बहुत ही कम होते हैं कि जिन्होंने परमात्मा या आत्मा का दर्शन कर लिया है, या दर्शन करने की कोशिश में लगे रहते हैं। मगर इस संसार में परमात्मा के बारे में ऐसे अनजान लोगों की भी कोई कमी नहीं कि जिनका संसार से परे परमात्मा या शरीर से अलग आत्मा के अस्तित्व पर बिलकुल ही विश्वास नहीं। ऐसे नास्तिक लोग जब कभी किसी मनुष्य को परमात्मा की भक्ति करते हुए देखते हैं, या किसी के धर्म या ईश्वर की बातें करते देखते हैं, कुछ इस प्रकार के आक्षेप करने लगते हैं, कि प्रथम तो इस संसार से अलग इस संसार को बनाने वाली या विश्व के कण कण में बसने वाली ऐसी कोई महान शक्ति भी नहीं है, कि जिसे संस्कृत या हिन्दी भाषा में ओ३म, ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर या राम या अरबी भाषा में अल्ला, खुदा या इंगलिश भाषा में गॉड या पारसी भाषा मे आरमजदा या पंजाबी भाषा में वाहेगुरु, इत्यादि नामों से पुकारा जा सके। परमात्मा का खयाल एक वहम है, कि जो उसके मनाने वालों को हो गया है, वर्ना तो यह सारा संसार बिना परमात्मा के ही सूक्ष्म परमाणुओं के आपस में मिल जाने से उसी प्रकार बन गया है, जिस प्रकार वायु के तेज चलने से या आँधी के आजाने से मिट्टी के छोटे–छोट परमाणुओं के हवा में उड़–उड़ कर एक जगह पर मिल जाने से ऊँचे ऊँचे टीले बन जाते हैं, या जोर की वर्षा के जल की बूंदों के आपस में मिलने पर तालाब, झील या नदी इत्यादि अपने आप बन जाते हैं। वैसे ही छोटे छोटे परमाणुओं के आपस में मिल जाने से कहीं सूर्य बन गया, तो कहीं चन्द्रमा बन गया कहीं तारे सितारे बन गये, तो कहीं भिन्न–भिन्न प्रकार के शरीर बन कर यह विशाल संसार बन गया। दूसरे यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाए कि कोई परमात्मा है तो हमारी समझ में यह नहीं आता कि हम उस परमात्मा की भक्ति क्यों करें? अपने जीवन के खाने पीने तथा जमाने के लाखों जरूरी कामों को छोड़ कर फजूल ही ऐसे परमात्मा के हम पीछे क्यों पड़ जाय, कि जिस परमात्मा की हस्ती है, के बारे में ज्यादा संख्या के लोग यह कहते सुने जाते हैं कि परमात्मा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। और लाखों में केवल दो चार ही ऐसे हैं कि जिनका यह विश्वास है कि अवश्य ही कोई परमात्मा है। थोड़ी देर के लिये मान लो कि परमात्मा है, मगर हमारी समझ में यह नहीं आता कि उस परमात्मा के बिना हमारा कौन सा ऐसा काम रुकता है या बिगड़ता है कि जिसे सुधारने के लिये हम ईश्वर के पीछे भाग पड़े। हम दुनिया में देखते हैं कि आस्तिक लोग जो परमात्मा की भक्ति वाले हैं हम नास्तिकों की तरह ही खाते पीते, तथा मरते हैं। तो उन भक्तों और हम नास्तिकों में फर्क ही क्या है। जब फर्क कुछ नहीं तो हम क्यों परमात्मा की भक्ति करें या आत्मा को क्यों जानें, या हम

क्यों धार्मिक बनें। बस इसी प्रकार के आक्षेप प्रायः नास्तिक लोग किया करते हैं अब इन्हीं आक्षेपों का अन्तर आगे चल कर दिया जाता है।

ईश्वर के मानने वालों का पहला सवाल यह है, कि कोई ईश्वर नहीं है, इस सवाल का जवाब आगे चल कर दिया जायेगा, मगर पहले हम इस आक्षेप पर विचार करते हैं कि हम ईश्वर भक्ति क्यों करें? ईश्वर को न मानने वालों की तरफ से यह एक सवाल है, हम उस सवाल का जवाब दिये बिना किसी नास्तिक को परमात्मा की भक्ति करने या धर्म पर चलने के लिए मजबूर नहीं कर सकते। ठीक है यदि कोई ईश्वर भक्ति करने वाला आस्तिक मनुष्य किसी नास्तिक मनुष्य से यह कहे कि तुम ईश्वर भक्ति किया करो, या आत्मा को जानने की कोशिश किया करो, या धार्मिक बनने का विचार किया करो। तो इस प्रकार के सवालों को सुन कर नास्तिक मनुष्य हमसे यह पूछने का हक रखता है कि हमें ईश्वर भक्ति करने से लाभ क्या होगा? यदि हम किसी आदमी से कहें कि तुम फलां दवाई खालो, तो हमें वह तुरन्त ही सामने से यह सवाल सुनने को मिलेगा कि मैं फलां दवा क्यों खाऊं। मुझे उस दवा से लाभ क्या होगा यदि आप लाभ बतलाओ तो मैं लाभ के लिए जरूर ही खाने की कोशिश करूँगा। और इस प्रकार यदि हम दवाई खाने का लाभ पूछने को नहीं बता सकते तो कोई आदमी क्या हमारे कहने पर दवाई खाने को तैयार हो सकता है ? मिसाल के तौर पर यदि हम किसी आदमी से यह तो कहें कि तुम देहली छोड़ कर बम्बई चले जाओ, मगर हम यह न बतला सकें कि बम्बई क्यों जाना अच्छा है। इसी प्रकार जब तक नास्तिकों को ईश्वर भक्ति या आत्मदर्शन का लाभ नहीं बताया जाएगा, तब तक भला कोई नास्तिक, आस्ति बन कर क्यों भक्ति करेगा। इसलिए सबसे पहले हम इस बात पर विचार करते हैं कि ईश्वर भक्ति से लाभ क्या होता है?

मनुष्य जीवन की सारी चेष्टायें इसलिए हुआ करती हैं कि वह और उसका सारा परिवार शान्त और सुख के साथ जीवन व्यतीत कर सके। और यह शान्ति और सुख उसे ऐसा चाहिए जो अनन्त काल तक रहने वाला हो। यह अनन्त कालीन शान्ति और सुख इस नाशवान जगत से अथवा उसके पदार्थों से कभी प्राप्त नहीं हो सकता। इसका उद्गम तो उसकी अपनी आत्मा ही है। उसके रूप को जानने और समझने से ही उसे सुख शान्ति के कभी न समाप्त होने वाले भण्डार की प्राप्ति हो सकती है। परम प्रभु परमात्मा भी मनुष्य की उसकी आत्मा रूपी गुहा में छिपा बैठा है। अतः उसकी तथा चिरकालीन सुख शान्ति की उपलब्धि के लिए आत्मदर्शन अतीव आवश्यक है।

गुरु गुण गाई लै

– श्री जगदीश राए बंसल 'अधम'

(तर्ज: बिहारी स्वर)

गुरु गुण गाई लै– गुरु के रिझाई लै।
गुफवा की रजवा– माथे पै लगाई लै।।

मन्त्रवा बोल बोल – मनवा टिकाई लै
धारणा बनाई के – इष्टवा बुलाई लै
स्वासा पै स्वासा पै स्वास चली – सुरति लगाई लै।।
गुरु गुण ....(1)

ग्रंथवा पढ़ी–पढ़ी – ज्ञानवा बढ़ाई लै
अज्ञानता दूर करी – ज्योति जलाई लै
पापवा मिटाई कै – पूनवा कमाई लै
गुरु गुण ....(2)

गीतवा के पढ़ी पढ़ी – योगवा बढ़ाई लै
ममता भूलाई के – समता बनाई लै
शुभ कर्म कमाई के – गठरी बन्धाई लै।।
गुरु गुण ....(3)

सिद्ध गुफा सेवा कूं – संवाई डेरा लगाई लै
कर्म गति गहनवा रे – होश वा सम्भाली लै
अधम चरण लगी के – आपन त्रास मिटाई लै।।
गुरु गुण ....(4)

माया का गुणकर्म विभाग क्या है ?

– प्रो. ऋषिराम शर्मा

(शेष पिछले अंक में)

इस प्रकार संसार के मनुष्य यज्ञविधि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते हैं और देवता उन्हें ईष्टभोगों की प्राप्ति कराते हैं। माया के विधान के अनुसार यज्ञ कर्मफल है अतएव कर्म की सिद्धि यज्ञों के माध्यम से होती है, इसलिए कर्म ही सृष्टि के संचालन का आधार है। किन्तु कर्म की गति अत्यन्त गूढ़ तथा गहन है, परमात्मा ने स्वयं इस सत्य को स्वीकार किया है कि –

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण:।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति:।।
कर्मणि अकर्म य: पश्येत् अकर्मणि च कर्म य:।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त: कृत्स्नकर्मकृत्।।
यस्य सर्वे समारम्भा: कामसंकल्पवर्जिता:।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु: पण्डितं बुधा:।।
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रय:।
कर्मणि अभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति स:।।

अर्थात् कर्मविभाग में तीन प्रकार के कर्म होते हैं तथा कर्म करने की प्रेरणास्रोत के रूप में पाँच क्लेश होते हैं जो अविद्या माया से प्रकट होते हैं और कर्माशय का निर्माण करते हैं। यह तीन कर्म हैं (1) श्रेयकर्म, (2) विकर्म तथा (3) अकर्म। और पाँच क्लेश हैं (1) अविद्या, (2) अस्मिता, (3) राग, (4) द्वेष तथा (5) अभिनिवेश। कर्मों की गति अत्यन्त गूढ़ तथा कठिन है, क्योंकि यह जानना हमारी बुद्धि की सामर्थ्य के बाहर हो जाता है कि कौन कर्म कब फलीभूत होगा, किस रूप में फल देगा और उसके क्या परिणाम होंगे? इसकी निश्चित रूप से पूर्णरूपेण जानकारी ज्ञानचक्षु से युक्त योगी को होती है, किन्तु ज्ञानचक्षु की प्राप्ति तो योगसिद्धि के उपरान्त सम्भव होती है, अज्ञानावस्था में नहीं। श्रेयकर्म वह है जो शास्त्रोक्त धर्म का शास्त्रविधि के अनुसार किया जाता है, विकर्म वह है जो शास्त्रोक्त धर्म के विरुद्ध शास्त्रविधि की अवहेलना करके किया जाता है तथा अकर्म वह है जिसमें न तो कर्तापन का अहंभाव है और न बुद्धि में फलासक्ति तथा जिसका एकमात्र लक्ष्य है परमात्मा में समर्पणबुद्धि। इसीलिए जो कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान मनुष्य है, वही युक्तयोगी है और वही कृतकृत्य है, क्योंकि अहंभाव से रहित कर्म अकर्म हो जाता है और कर्मेन्द्रियों पर संयम करके कर्म न करना किन्तु मन में फलासक्ति का होना अकर्म में कर्म हो जाता है, क्योंकि बुद्धि मन की भावना को ग्रहण करती है और बुद्धि की संवेदना को तदाकारता के कारण जीवात्मा ग्रहण करती है यानि उससे

प्रभावित होती है। कर्म के पीछे मन में फलासक्ति की कामवासना के कारण ही कर्म कर्माशय में संचित होते हैं। यदि साधक के कर्मों के पीछे कोई भी फलकामना का संकल्प नहीं है तो ऐसे साधक के कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं और कर्माशय में संचित नहीं होते और वह साधक बुद्धिमान तथा विवेकज्ञानसम्पन्न कहलाता है। अत: जिसने कर्मफल में आसक्ति का त्याग कर आत्मा में सन्तुष्टि तथा आत्मानन्द में स्थिति प्राप्त कर ली है, वह साधक कर्म करता हुआ भी अकर्ता है और कर्मबन्धन से मुक्ति पा जाता है। इसलिए माया के मायाजाल को बनाने में तथा इस मायाजाल से मुक्ति पाने में कर्मविधान का विशेष महत्व है। यह मायाजाल परमात्मा से ही स्वत: प्रकट हुआ है जैसे कि मकड़ी के मुख से मकड़जाल अथवा पृथ्वी से औषधियाँ या प्राणियों के शरीर से बाल स्वयं तथा स्वत: प्रकट होते हैं। इसलिए मायाजाल के बन्धन से मुक्ति भी समर्पणबुद्धि से किये गये कर्मों से सम्भव है, अन्यथा नहीं, क्योंकि –

''तदर्थमेव दृश्यस्य आत्मा।।''

(योगदर्शन)

अर्थात् दृश्य के मायाजाल का उद्देश्य उसी परमात्मा की सेवा करना है और आत्मसमर्पण ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। परमात्मा के प्रति सेवाभाव में समर्पणबुद्धि से किये गये यज्ञादियों के अतिरिक्त कर्म ही मायाजाल की गाँठों का धर्म निर्वाह करते हैं और समर्पणबुद्धि वाले कर्म गाँठों के कर्मबन्धन को खोल देते हैं। अतएव परमात्मा ने अपनी माया के विधान में यह निश्चित नियम बनाया है कि बुद्धिबोधात्मिका जीवात्मा जब तक अपने देहबुद्धिजनित अहंभाव में कर्मरत है, इन्द्रियभोगों की भोक्ता है तथा गुणों की आधीनता में अपने को परमात्मा से भिन्न मानकर शोकातुर तथा असमर्थ एवं अल्पज्ञ है तब तक वह मायाजाल में बँधा रहता है और जब उसका चित्त भोगवासना के संस्कारों से मुक्त होकर कर्मों में फलासक्ति को त्याग कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप से प्रकाशित हो जाता है तब वह मायाजाल से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त कर लेती है। श्रुति इस निश्चित नियम की पुष्टि करती है कि –

पश्यति आत्मानमन्यच्च यावद्वै परमात्मन:।
तावत् सम्भ्राम्यते जन्तु: मोहितो निजकर्मण:।।
संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीश:।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै:।।
गुणान्वयो य: फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव य: चोपभोक्ता।
स: विश्वरूप: त्रिगुण: त्रिवर्त्म: प्राणाधिप: संचरति स्वकर्मभि:।।

अर्थात् ज्ञानचक्षु के अभाव में जब तक जीवात्मा अपने को परमात्मा से भिन्न अल्पज्ञ तथा सुखी–दु:खी मानती रहेगी तब तक वह मायाचक्र में लोकलोकान्तरों में भटकती रहेगी। यह मायाचक्र उसीके कर्मों द्वारा बनाया गया मायाजाल है। वेदज्ञान के अनुसार माया परमात्मा की स्वभाविकी अपार शक्ति है जिसके द्वारा परमात्मा ही संसार के रूप में अपने तीन स्वरूपों में

आश्चर्यमयी मायिक लीला करता हुआ प्रतीत होता है। एक स्वरूप क्षर, कल्पित तथा भ्रान्तिज्ञान द्वारा व्यक्त होता है जिसे दृश्यजगत कहते हैं, दूसरा स्वरूप सर्वाधिष्ठान, कूटस्थ तथा चैतन्यात्मा का है जो दृश्यजगत को धारण किये हुए है और तीसरा स्वरूप अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्तिसम्पन्न तथा अनन्त आनन्दस्वरूप है जिसे ईश्वर कहते हैं और जो अपनी स्वाभाविक अपार शक्तियों से दृश्यजगत की उत्पत्ति, भरण–पोषण तथा संहार का कार्य सम्पन्न करता है। जगतस्वरूप में भोगभावना के वशीभूत मायापाश में बँधा प्रतीत होता है और जब उसे ईश्वर के स्वरूप का तत्वज्ञान हो जाता है तब वह अपने कल्पित जीवस्वरूप को ज्ञानाग्नि द्वारा भस्म कर ईश्वर स्वरूप में स्थित हो जाता है। तत्वज्ञान होने से पूर्व उसके चित्त पर त्रिगुणात्मिका माया का मलावरण छाया रहता है। यह मलावरण पंचक्लेश तथा कर्माशय के संस्कार तैयार करते हैं। पंचक्लेशों का विस्तृत वर्णन हम पूर्वोक्त अध्यायों में कर चुके हैं अतः यहाँ पर हम उनके प्रभावों का संकेत देंगे कि अविद्याक्लेश के प्रभाव से संसार के अनित्य पदार्थ नित्य जैसे प्रतीत होते हैं, गुणों के क्रमपरिणामों द्वारा रचित अशुद्ध पदार्थों में शुद्धि की भावना, परिवर्तनशील तथा क्षणिक विषयसुख में नित्यानन्द को देखना तथा मायिक शरीरों में आत्मबुद्धि का होना, यह सब अविद्याक्लेश का चित्त पर प्रभाव है। अस्मिता क्लेश विशुद्ध आत्मा की बुद्धि आदि मायाकृत शक्तियों के साथ तदाकारता का अनुभव कराता है जिससे ज्ञानेन्द्रियों, मन, बुद्धि तथा शरीर में होने वाली संवेदनायें शुद्ध आत्मा में अनुभूत होती हैं जैसे कि रंगीन तथा चित्रित माध्यम पर रखी गयी शुद्ध स्फटिक मणि में माध्यम के रंग तथा चित्र दिखाई देते हैं। रागक्लेश के प्रभाव से मायिक पदार्थों में आसक्ति तथा सुखानुभूति तथा द्वेषक्लेश के प्रभाव से चित्त में मायिक पदार्थों में घृणा तथा दुःखानुभूति का अनुभव होता है। अभिनिवेश क्लेश के प्रभाव में नश्वर शरीर में आत्मानुभूति के कारण मृत्यु के भयादि दुःख की अनुभूति सदैव बनी रहती है। इन्हीं प्रभावों से प्रेरित होकर जीवात्मा कर्म में प्रवृत्त तथा कर्मफल में सदैव आसक्त रहती है और कृतकर्मों के फलों की भोक्ता बनकर लोकलोकान्तरों में भटकने के लिए प्रकृति द्वारा बाध्य होती है। यही प्रक्रिया प्राणशरीरों के रूप में विश्व का निर्माण करती है, जीवात्माओं के लिए गुणबन्धन तथा कर्मबन्धन का त्रिगुणात्मक तथा त्रिवर्गात्मक मायाजाल तैयार कर देती है। इसलिए प्राणशरीरों पर आरूढ़ जीवात्मायें अपने–अपने कर्मफलों के अनुकूल लोकों में सम्भान्तावस्था में आवागमन करती रहती है, यही द्वितीय स्वरूप की दयनीय दशा है। किन्तु यह मायिक प्रतीति है न कि वास्तविकता , क्योंकि –

दृष्टा दृशिमात्रो शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य:।।

(योगदर्शन)

अर्थात् जीवात्मा के रूप में जो दृष्टा है वह केवल साक्षीमात्र है तथा परम शुद्ध है किन्तु मायिक तत्वों से एकाकारता उसे पंचक्लेशों से प्रभावित दिखाती है। कर्मफलों में आसक्ति ही कर्मबन्धन का कारण है, इसीलिए यह प्रकृति का नियम है कि –

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।।

अर्थात् फलबुद्धि से किया हुआ कर्म अवश्य भोगना पड़ता है और उनका परिणाम पुण्यात्मक अथवा अपुण्यात्मक स्वरूप के आधार पर सुख अथवा दुःख के रूप में प्रकट होता है। कर्म करने के पीछे जब तक यह सुख–दुःख, मान–अपमान तथा रागद्वेषादि द्वन्द्वों की भावना सन्निहित है तब तक कर्म बन्धन का कारण है किन्तु बुद्धि की द्वन्द्वातीत अवस्था में कर्म बन्धन का कारण नहीं है, इसकी घोषणा स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने की है कि –

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।

अर्थात् विद्वान तथा द्वन्द्वरहित मनुष्य के कर्म बन्धन का कारण नहीं होते हैं, क्योंकि कर्मफल की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति में उसकी बुद्धि समत्वभाव को धारण किये रहने से विचलित नहीं होती और न मन में अशान्ति या दुःखानुभूति ही होती है और मन तथा बुद्धि प्रत्येक स्थिति में पूर्णरूपेण सन्तुष्ट तथा संकल्प–विकल्परहित रहते हैं जिससे कि चित्त में चित्तवृत्तियों का नितान्त अभाव रहता है। वह कर्म बन्धन का कारण होता है जोकि गुणपरिणाम उत्पन्न करता है जैसे कि –

कर्मणः सुकृतस्याहुः सत्विकं निर्मलं फलम्।

रजसस्तु फलं दुःखं अज्ञानं तमसः फलम्।।

अर्थात् पुण्यकर्मों के फलस्वरूप सतोगुण की वृद्धि होती है, रजोगुणी कर्मों का फल दुःखानुभूति है तथा तमोगुणी कर्मों के परिणामस्वरूप अज्ञान, प्रमाद तथा मोहजनित अंधकार की वृद्धि होती है। इसलिए सभी फलासक्ति वाले कर्म गुणात्मक होते हैं जिनको स्वयं परमात्मा ने परिभाषित किया है कि –

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित्।।
पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च प्रथग्विधम्।
विविधाश्च प्रथक्चेष्टाः दैवं चैवात्र पंचमम्।।
शरीरवाङ्मनोभिः यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः।।
तत्रैवं सति कर्तारं आत्मानं केवलं तु यः।

पश्यति अकृतबुद्धित्वात् न सः पश्यति दुर्मतिः।।
ज्ञानं ज्ञेय परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।

अर्थात् मनुष्य देहात्मबुद्धि से जो कर्म करते हैं उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वह पुण्यात्मक कर्म आते हैं जिनका ईष्टफल यानि सुखानुभूति है, द्वितीय श्रेणी में वह कर्म आते हैं जिनका अनिष्टफल यानि दुःखानुभूति है और तृतीय श्रेणी में वह कर्म आते हैं जिनका मिश्रित फल है यानि कभी सुखद तो कभी दुःखद होते हैं। किन्तु कर्मों की यह श्रेणियाँ केवल अहंवादी मनुष्यों के संदर्भ में कही गयी हैं जो कर्मफल से प्रभावित होते हैं न कि आत्मज्ञानी मनुष्यों के लिए, क्योंकि आत्मज्ञानी महापुरुष कर्म करता हुआ भी अकर्ता है और वह कर्मफल में लिप्त नहीं होता। भगवान श्रीकृष्ण का कथन है कि –

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चनः।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।

अर्थात् जो देहात्मबुद्धि से मुक्त होकर कर्म करता है वह इस संसार में कर्म की सिद्धि अथवा असिद्धि से प्रभावित नहीं होता, क्योंकि उसे किसी भी प्रकार के लाभ प्राप्ति की कामना ही नहीं है। उसके लिए कर्मफल का कोई महत्व ही नहीं है, वह सदैव आत्मतृप्त होकर अपने नित्यानन्द एवं विज्ञानमय परमात्मस्वरूप में लीन रहता है। संसार में कर्मों की सिद्धि के लिए पाँच मुख्य कारण शास्त्रों में बताये गये हैं। सभी कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जाते हैं अतः पाँचों कारण भी गुणात्मक हैं और प्रकृति द्वारा ही प्रदत्त हैं। वह हैं (1) पंचभूतात्मक शरीर, (2) देहात्मबुद्धियुक्त जीवात्मा, (3) इन्द्रियादि प्राकृतिक शक्तियाँ, (4) मन–बुद्धि में उदित होने वाले संकल्प तथा प्रारब्ध, (5) के अनुकूल प्रेरित करने वाली देवशक्तियाँ। शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों द्वारा जितने भी कर्म किये जाते हैं, वह धर्मानुकूल हों अथवा धर्म विरुद्ध हों, उन सभी कर्मों के कारण यही मायिक शक्तियाँ रहती हैं। किन्तु अविद्यादि दोषों के कारण अज्ञानमोहित जीवात्मा इन कर्मों में अपना कर्तापन देखने लगती है और इसी मिथ्याज्ञान के कारण कर्मबन्धन का मायाजाल बन जाता है। यही भ्रान्तिज्ञान चित्त में कर्माशय का मलावरण बनाता है। जीवात्मा बुद्धिबोधात्मा है यानि बुद्धि में जो कर्मविषयक ज्ञान है, कर्मफल का लक्ष्य है तथा उस कर्म को सिद्ध करने का कर्तापन का अहंकार है, वही जीवात्मा में कर्मप्रेरणा का स्रोत है तथा इन्हीं आधारभूत कारणों से कर्माशय में कर्मों का समुच्चय यानि संग्रह होता जाता है। उनमें जो कर्म फलोन्मुख होकर परिपक्व हो जाते हैं उन्हें प्रारब्धकर्म कहा जाता है। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में इस मायिक प्रक्रिया का रहस्योद्घाटन किया है कि –

क्लेशमूलो कर्माशयः दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।।
दृष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।

तदसंख्यवासनाभिः चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।

चितेः अप्रतिसंक्रमायाः तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।।

अर्थात् मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों पर अविद्याजनित पंचक्लेशों का जैसा प्रभाव होता है शरीर तथा कर्मेन्द्रियों से वैसे ही कर्म होते हैं। यह कर्म कर्मसंस्कारों के रूप में संचित होते जाते हैं जिससे कर्माशय का निर्माण होता है और उसी के आधार पर पूर्व जन्मों तथा आगामी जन्मों का लेखा जोखा बनता है और वही स्मृति की आधारशिला है। कर्माशय के जो कर्म परिपक्व होकर फलोन्मुख हो जाते हैं वह प्रारब्ध का निर्माण कर जीवात्मा के लिए अनुकूल योनि, उस योनि में भोगसामग्री तथा योनि की आयु का निर्धारण करते हैं। मनुष्ययोनि में बुद्धि विकसित होती है और चित्त में सभी प्रकार की मनोवृत्तियों को ग्रहण करने की विशेष सामर्थ्य होती है। शरीर के माध्यम से प्रकृति की मन, बुद्धि तथा इन्द्रियादि शक्तियाँ संयुक्तरूप से परस्पर सहयोग करती हैं और असंख्य वासनाओं के संस्कारों से चित्रित चित्त में अन्य नवीन संस्कारों को ग्रहण करने की असीमित योग्यता रहती है। यही मायाकृत संसार का अद्भुत आश्चर्य है। यद्यपि चित्त को प्रकाशित करने वाली चैतन्यात्मा सदैव ज्योतिस्वरूप, विशुद्ध तथा निर्लिप्त एवं निष्क्रिय रहती है तथापि बुद्धि के साथ तदाकारता के परिणामस्वरूप बुद्धि की संवेदना से प्रभावित रहती है और इसीलिए मायाबद्ध जीवात्मा कहलाती है। यह संसार परमात्मा की गुणमयी माया द्वारा रचित मायिक दृश्यमात्र है। इसलिए दृश्य के प्रत्येक पदार्थ को तीन गुणों के अनुसार तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कर्म, कर्ता तथा ज्ञान तथा बुद्धि आदि मायिक अवयवों को गुणों के अनुसार विभाजित किया है कि –

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावत् श्रुणु तान्यपि।।
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययं ईक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।।
प्रथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् प्रथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तं अहेतुकम्।
अतत्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।

अर्थात् परमात्मा श्रीकृष्ण का कथन है कि ज्ञान, कर्म तथा कर्ता इन तीनों को त्रिगुणभेद के अनुसार तीन विभागों में बाँटा जा सकता है। सर्वप्रथम हम ज्ञान के विभागों के लक्षण बतायेंगे। बुद्धि का वह ज्ञान सात्विक ज्ञान है जिसके अनुसार सभी प्राणियों में एक ही परमात्मतेज व्यापक, सर्वदृष्टा तथा चैतन्यात्मा के रूप में दिखाई दे और उनमें भिन्नता की प्रतीति भ्रान्तिमात्र दिखाई दे जैसे कि भिन्न रूपों, नामों तथा कार्यों में कार्यरत विद्युतमशीनों में एक ही विद्युत तरंग रहती है। बुद्धि का वह ज्ञान रजोगुणी ज्ञान है जिसके अन्तर्गत सभी प्राणियों तथा सांसारिक पदार्थों में

भिन्न–भिन्न अनन्त भाव तथा भेद की प्रतीति होती है जैसे कि संसार के भिन्न–भिन्न घटों में अनन्त नाम, रूप तथा पदार्थों के विद्यमान होने से अनन्त घटाकाशों की प्रतीति होती है। बुद्धि का वह ज्ञान तमोगुणी ज्ञान है जिसके अन्तर्गत विपरीतज्ञान यानि असत्य में सत्य तथा सत्य में असत्यज्ञान की प्रतीति हो। ऐसा ज्ञान अविद्याक्लेश का परिणाम होता है जैसा कि निद्रा के आवरण में स्वप्नदृष्टा को स्वप्नजगत सत्य तथा जागृतजगत असत्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार कर्म को भी तीन गुणों के अनुसार तीन भागों में बाँटा जा सकता है जैसा कि –

नियतं संगरहितं अरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसां अनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तद् तामसमुच्यते।।

अर्थात् मनुष्य संसार में जो भी कर्म करते हुए दिखाई देते हैं उसमें कर्म के पीछे चित्त में उदित भावना, कर्म करने का ढंग तथा कर्मफल में आसक्ति अथवा निरासक्ति पर विचार करना चाहिए। सात्विक कर्म वह है जो स्वाभावज होते हैं और प्रारब्ध का परिणाम होता है, इन कर्मों में जीवात्मा के चित्त में कर्तापन का अहंकार नहीं होता और न कर्मफल में कोई आसक्ति अथवा वासना के संस्कार होते हैं तथा उनमें रागद्वेष की भावना का अभाव रहता है जिसके कारण सात्विक कर्म से सतोगुण की वृद्धि होती है किन्तु कर्मबन्धन का कारण नहीं बनते। रजोगुणी कर्म वह हैं जिनके फल में कामना के वासनासंस्कार रहते हैं तथा देहात्मबुद्धि के अहंकार के द्वारा यानि अहंवृत्ति के साथ किये जाते हैं। कामना की पूर्ति के निमित्त किये जाने के कारण जीवात्मा का उनमें अधिक पुरुषार्थ रहता है। तमोगुणी कर्म वह हैं जिनका आरम्भ ही अज्ञानबुद्धि से होता है, उनका परिणाम भी दूसरे जीवों के लिए कष्टकारी तथा अहितकर होता है। इन कर्मों का फल भी जीवात्मा के स्वास्थ्य तथा मानसिक शान्ति के लिए हानिकारक एवं भ्रान्तिज्ञान से उत्पन्न अनिष्टकारी परिस्थितियों को जन्म देता है। कर्म करने में जो कर्तापन की भावना रहती है उसमें भी तीन गुणों का ही योगदान रहता है, जैसा कि भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं वर्णन किया है कि –

मुक्तसंगोऽहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः कर्ता सात्विकः उच्यते।।
रागी कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोनैस्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामसः उच्यते।।

अर्थात् परमात्मा की माया से विमोहित बुद्धिबोधात्मा जीवात्मा में कर्म के कर्तापन का भाव भी तीन गुणों का ही परिणाम होता है। सात्विकभाव वाले कर्ता में कर्तापन का अभाव रहता है क्योंकि वह अहंभाव से प्रेरित होकर कर्म नहीं करता और न उसके चित्त में फलासक्ति का भाव रहता है अपितु लोकहित में कर्तव्यबुद्धि से कर्म करता है। कर्म करने में उसे सफलता मिले अथवा असफलता वह दोनों परिस्थितियों में निर्लिप्त तथा समभाव में रहता है। रजोगुणी भाव वाला कर्ता कर्मफल में आसक्त होने के कारण रागी तथा कर्मसिद्धि के लिए चिन्तित रहता है, उसके चित्त में लोभवृत्ति, क्रोधात्मिका तथा हिंसात्मिका वृत्तियों का मलावरण छाया रहता है। ऐसा कर्ता सदैव हर्ष अथवा शोक की चित्तवृत्तियों से मानसिक अशान्ति में रहता है। तमोगुणी कर्ता सदैव भ्रमित, विवेकबुद्धिहीन, सम्भ्रान्त, हिंसक, अशुद्धधारणायुक्त, प्रमादी, विक्रितमानसिकता वाला तथा क्रूरकर्ता होता है, उसे उचित–अनुचित अथवा धर्म–अधर्म की कोई चिन्ता नहीं होती, केवल कार्यसिद्धि के लिए चिन्तित रहता है। ऐसा कर्ता मूढ़ावस्था में रहता है। कर्मो की भी अनेक शाखायें रहती हैं जोकि श्रेयमार्ग अथवा प्रेयमार्ग की ओर ले जाती हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने संक्षेप में उनका संकेत दिया है कि –

सत्वानुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धा स एव सः।।
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।
अफलाकांक्षिभिः यज्ञो विधिदृष्टो यः इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः।।
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।
श्रद्धया परया तप्तं तप स्त्रिविधं नरैः।
अफलकांक्षिभिः युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।

(गीता 7/3–19)

अर्थात् जीवात्मा के चित्त का स्वरूप उसकी श्रद्धा की स्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। यह बुद्धिबोधात्मिका जीवात्मा का मायिक स्वरूप है। इसीलिए श्रद्धारहित यज्ञ, तप तथा दानादि सांसारिक कर्म न इस लोक में फलीभूत होते हैं और न मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होने वाले लोकों में, क्योंकि श्रद्धा ही कर्म का बीज है और बीज के बिना कोई भी पौधा या प्राणी प्रकट नहीं होता ऐसा प्रकृति का नियम है। यह श्रद्धारूपी बीज भी तीन गुणों का ही क्रमपरिणाम है। अतः सात्विक यज्ञ वह है जिसका कर्ता शास्त्रविधि का पालन करते हुए कर्तव्यबुद्धि से फलासक्ति त्यागकर यज्ञ करता है। रजोगुणी यज्ञ वह है जिसमें फलप्राप्ति की कामना पूर्वनियोजित है और जिसका ध्येय समाज में उच्चप्रतिष्ठा तथा सम्मान पाना है। तमोगुणी यज्ञ वह है जिसमें शास्त्रविधि की उपेक्षा की गयी है, जिसमें शुद्ध अन्न तथा यज्ञ की हवनसामग्री का प्रयोग नहीं किया गया है और वेदमन्त्रों का उच्चारण भी अशुद्ध होता है। यज्ञ की प्रक्रिया में दक्षिणादान की क्रिया सत्कारपूर्वक नहीं की गयी और न पूर्णश्रद्धासहित देवद्विजपूजन किया गया है। यज्ञों का फल भी गुण तथा श्रद्धा के अनुसार होता है, सात्विक यज्ञ से सतोगुण में वृद्धि तथा चित्तशुद्धि होती है, रजोगुणी यज्ञ से रजोगुण में वृद्धि तथा देवताओं के द्वारा ईष्टभोगों की प्राप्ति होती है तथा तमोगुणी यज्ञ से तमोगुण में वृद्धि तथा आसुरी सम्पदा मिलती है। इसी प्रकार तपों का विधान किया गया है। देवों, ब्राह्मणगण, विद्वान पुरुषों की पूजा तथा गुरुपूजन शारीरिक तप है। इस तप से बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि एवं स्वभाव में निर्मलता तथा निष्कपटता आती है और ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा की प्रवृत्ति में वृद्धि होती है। वाणी का तप वह है जिसमें शब्दों के श्रवण से अन्य मनुष्य उद्वेलित तथा दुःखी न हों, वाणी में सत्यता के साथ–साथ प्रियता भी हो तथा जो स्वाध्याय के अभ्यास में प्रयासरत हो। इसी प्रकार मानसिक तप वह है जिसमें चित्त में शान्ति, सौम्यता, मौनवृत्त की चित्तवृत्ति तथा चित्त की विशुद्धता में वृद्धि होती जाय। यह सभी तप गुणात्मक हैं, इसलिए सतोगुणी तप वह है जो श्रद्धापूर्वक निरासक्तभाव से किया जाता है। जो तप अहंकारबुद्धि से मान–सम्मान पाने के लिए दम्भपूर्वक किया जाता है उसे राजसी तप कहते हैं। तमोगुणी तप वह है जिसका लक्ष्य दूसरों को पीड़ा देना है और जो दुराग्रहपूर्वक महान कष्टों को आमन्त्रित करते हुए आसुरी शक्तियों में वृद्धि के लिए किया जाता है। इसी प्रकार दानरूपी यज्ञकर्म भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार का है कि –

दातव्यमिति यद्दानं दीयते अनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।
अदेशकाले यद्दानं अपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।

अर्थात् वह दानकर्म सात्विक कहलाता है जिसमें बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के परिस्थिति, पात्रता तथा आवश्यकता को ध्यान में रखकर लोकहित की कर्तव्यभावना से प्रेरित होकर अपनी शुद्ध आय में से दान किया गया है। रजोगुणी दान वह है जिसके पीछे प्रत्युपकार की आशा छिपी है और जिसमें कोई स्वार्थसिद्धि अन्तर्निहित है और जो हर्षान्वित होकर नहीं दिया गया है। तमोगुणी दान वह है जो पात्रता तथा परिस्थिति को ध्यान में रखकर नहीं दिया गया, अपितु तिरस्कार करते हुए अपमानित करने के उद्देश्य से दिया गया है। आत्मकल्याण को दृष्टि में रखकर भगवान श्रीकृष्ण का कर्मबन्धन से मुक्ति के लिए यह आदेश है कि –

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुः त्यागं विचक्षणाः।।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानि इति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।

(गीता 18/2–6)

अर्थात् कामनागर्भित कर्मों का परित्याग ही सन्यासधर्म है। ब्रह्मज्ञानी महापुरुष समस्त कर्मों के फलत्याग को ही विवेकयुक्त त्याग मानते हैं, क्योंकि वह कर्मबन्धन का कारण नहीं होते। यज्ञ, दान तथा तपादि कर्म अवश्य करते रहना चाहिए, उनका परित्याग करना जीवात्मा के परमहित में नहीं है, क्योंकि इन कर्मों से ही अन्तःकरण की शुद्धि होती है और माया के मलावरण का नाश होता है। भगवान श्रीकृष्ण की यह निश्चित धारणा है कि इन कर्मों को भी फलासक्ति से रहित मन से करना चाहिए। भगवान का यह स्वयं का निष्कर्ष है कि कर्तव्यबुद्धि से किये गये यही कर्म मायापाश से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

• योग–आसन

वातायनासन

विधि

इस आसन के करने की विधि वृक्षासन से बिल्कुल मिलती जुलती ही है। केवल इतना अन्तर है कि अपना दाहिना पैर जो मोड़ कर बायें पैर की जंघा पर जमा कर रखा हुआ है, उसके घुटने को नीचे को बढ़ा कर बायें पैर के ग्रन्थी स्थान (गुल्फ) टकनों पर जमा कर हाथ जोड़ कर खड़े रहें। बायाँ पैर घुटने में से थोड़ा झुक जायेगा। इस आसन को वातायन आसन कहते हैं।

समय – साधारण वृक्षासन की ही तरह 1 मिनट से आरम्भ करके 2 या 3 मिनट तक पैरों को बदल–बदल कर, कर लेना चाहिए।

लाभ – आरोग्यता बढ़ती हैं। वायु निस्तरण होकर कोष्ठबद्धता में लाभदायक है। वीराना भाव पुष्ट होते हैं।

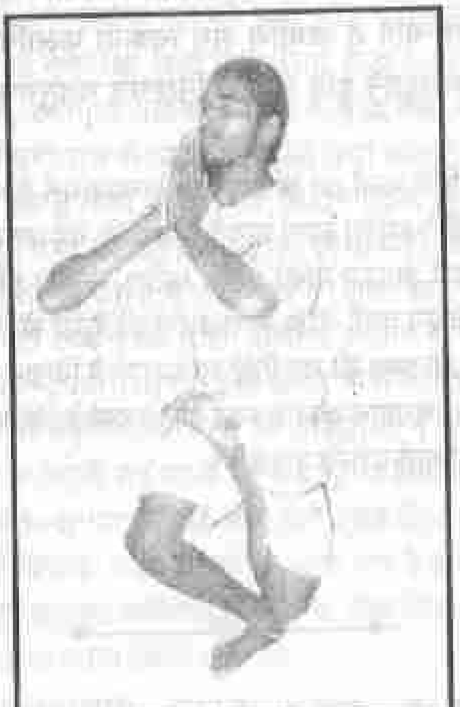

आश्रम समाचार.......

श्री सिद्धगुफा संवाई आश्रम में श्री गुरु – पूर्णिमा तथा रुद महाभिषेक यज्ञ सम्पन्न

इस वर्ष श्री गुरु–पूर्णिमा का पावन पर्व विगत वर्षों की भाँति ही श्री सिद्ध गुफा संवाई धाम में 12 जुलाई को धूम धाम से सम्पन्न हो गया। लगभग 8–12 हजार गुरु भक्त इस उत्सव में शामिल रहे और गुरु चरणों का चिन्तन एवं सेवा का आनन्द लिया। इस के एक दिन बाद ही 14 जुलाई से श्रावण कृष्ण द्वितीय से श्री रुद्राभिषेक का कार्यक्रम यज्ञशाला में प्रारम्भ हो गया। पिछले वर्षों की भाँति ही कर्णवास बुलन्दशहर से वेदाचार्य श्री वैकुण्ठ जी शर्मा के आचार्यत्व में 21 वेद पाठियों के द्वारा 11 दिन तक लगातार अभिषेक का अनुष्ठान चलता रहा। अनुष्ठान में दो–ढ़ाई सौ साधकों ने आश्रम में रहकर अनुष्ठान व साधना की। दिन में प्रायः यज्ञ शाला में समकाध्य शिरोग्रीव होकर मन्त्रजाप एवं ध्यान में मग्न रहते थे तथा वेद मन्त्रों का श्रवण करते रहते थे। दोपहर में सभी साधकों के लिये फलाहार की व्यवस्था थी। इस प्रकार से पूरा पखवाड़ा अध्यात्म लहर में रंगा रहता था। सभी ब्रह्मचारी अपनी–अपनी निश्चित आश्रम सेवा में संलग्न रहते थे। साधक गण सुबह–शाम गुफा के सामने गुरु भवन में व यज्ञशाला में ध्यान–योग में मग्न देखे जा सकते थे। 24 जुलाई को यज्ञ की पूर्णाहुति हुई तथा ब्रह्मभोज के साथ ही कार्यक्रम धूमधाम से सम्पन्न हो गया। सभी आये साधक भी गुरु–चरणों का आशीर्वाद प्राप्त कर अपने–अपने गन्तव्य की ओर चल पड़े। पुनः योग शक्ति से ऊर्जावान होकर धाम सवांई से विदाई ले ली। इस प्रकार से यह कार्यक्रम हर्ष व उल्लास के साथ सम्पन्न हो गया। आश्रम के व्यवस्थापक आचार्य दासलाल जी ने सभी आये साधकों को प्रसाद देकर विदा किया।

श्रावमास अत्यन्त पावन मास है, अपनी कामनाओं की पूर्ति व भगवान शिशिर की प्रसन्नता के लिये विशेष अर्चन इस मास में होता है।

नाम जपो हँसते रहो, चिंता का क्या काम?
हर पल अच्छे बुरे में, रक्षक हैं प्रभु राम।।
योग बने प्रभु राम से, जपे नाम निष्काम।
देह रहे सुख धाम है, देह तजे हरि धाम।।

जिंदगी यूँ ही गुजर जाये

– श्रीमती शारदा सिसौदिया, 48 विष्णुपुरी मेन, इन्दौर (म. प्र.)

गुरु भक्ति में डूबा मन चिंतन करता अपने मालिक से विनय करता है :–
तेरे साये की ओट में जिंदगी यूँ ही गुजर जाये :–

तेरी चरण–शरण की शीतल छाया में,
योग का दीपक भक्ति–स्नेह से सिंचित हो,
हमारी जीवन की राहों को प्रकाश देता रहे,
तेरे शीतल शकुन भरे साये में,
जिंदगी यूँ ही गुजर जाये। ....(1)

भक्ति–रस की धारा सदा,
प्रभु–दरबार में बहती रहे,
आनंद–अमृत कलश,
सतत छलकता रहे,
रस–पान करते करते,
जिंदगी यूँ ही गुजर जाये।........(2)

दरबार में सात्विक विचारों का,
भक्तों बीच आदान प्रदान होता रहे,
योगामृत–भक्ति रस पान करते करते
जिंदगी यूँ ही गुजर जाये। ....(3)

दया का दान कर प्रभुजी,
हमें ऐसी शक्ति दे देना,
सदा सत्य के राही बने,
सादगी बाना रहे,
जिंदगी यूँ ही गुजर जाये। ....(4)

परोपकार हो साँसों की धड़कन,
अहिंसा हो हमारी सरगम,
दृढ़ विश्वास हो अपनी
गुरु भक्ति पर, गुरु शक्ति पर इठलाऊँ,
जिंदगी यूँ ही गुजर जाये। ....(5)

जीवन में भयंकर झंझावत आये,
दुश्वार बने जीवन की राहें,
आन्दोलित हो जीवन नैया,
कोई साथी ना हो अपना,
गुरु नाम ही रक्षा–कवच बन जाये,
जिंदगी यूँ ही गुजर जाये। ....(6)

गुरु नाम लेते जीवन का सफ़र बीत जाये,
जीवन के अंतिम सफ़र पर गुरु चरणों में,
चिर शांति का मुकाम पाऊँ,
जिंदगी यूँ ही गुजर जाये। ....(7)

स्थिरता निर्विकल्प समाधी है तथा एकाग्रता सविकल्प समाधी है। सविकल्प का तात्पर्य है कि उस अवधि में आवश्यक विचारों का मन: क्षेत्र में अपना काम करते रहना। मन की स्थिरता सर्वथा भिन्न बात है। उसे एकाग्रता से मिलती जुलती स्थिति तो कहा जा सकता है, किन्तु दोनों का सीधा सम्बन्ध नहीं है। जिसका मन स्थिर हो उसे एकाग्रता का लाभ मिल सके अथवा जिसे एकाग्रता सिद्ध है उसे स्थिरता प्राप्त हो जाये, यह आवश्यक नहीं।

चित्र/मूर्तो पासना सिद्धान्त-वैज्ञानिकता एवं वैधानिकता

– सोमनाथ त्यागी "हरिजन", उपासना पद्धतिशोध संस्थान, कोट बाजार, अमरोहा (उ. प्र.)

गणित शास्त्र, भौतिकी, भूगोल, आदि वैज्ञानिक विषयों को समझने–समझाने में ग्राफों–चित्रों–मानचित्रों की सहायता प्रायः सभी को लेनी ही पड़ती है। यही बात आध्यात्मिकता के प्रारम्भिक प्रशिक्षण के प्रति भी सत्य है। उपासना का अर्थ समीपता बताते हुए स्वामीश्री दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थ–प्रकाश में लिखा है कि " परमात्मा के समीपस्थ होने.....के लिये अष्टांगयोग में जो–जो करना होता है, वह–वह सब करना चाहिये"। "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि,"(पातंजल योग दर्शन–2/29), यह अष्टांगयोग है। इसमें अन्तरगतः, किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण हो सकने योग्य कैसे भी स्थूल वा सूक्ष्म "ग्राह्य" को अर्थात् मूर्त साधन किंवा मूर्त–वस्तु को ध्येय (साध्य) बनाकर उसके समीपस्थ होने के अभ्यास की जो संयमसिद्धि की जाती है वही उपासनासिद्धि है, "०ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदजनता समापत्तिः" (पा यो द–1/41)।

लेकिन प्रारम्भतः ये ग्राह्य तो शब्द, अर्थ और ज्ञान के सम्मिश्रण का सवितर्क " विकल्प " अर्थात् प्रतीक होते हैं, "तत्र शब्दार्थज्ञान विकल्पैः सवितर्का समापत्तिः" (पा यो द–1/42)। अब यह सवितर्को–सविकल्पोपासना है अर्थात् प्रतीकोपासना है। और, कैसा भी ग्राह्य क्योंकि त्रिसरेणु जनित मूर्त परिमाण अवश्य होता है, अतः यह मूर्तोपासना भी है। मूर्तिपूजा विरोधी एकेश्वरवादियों की तथाकथित निराकारोपासनीय संध्योपासनादि जपाभ्यासोपासना में प्रयुक्त हो रहे ये प्रणवः ओंकार, गाड, अलिफ–लाम–मीम किंवा ओम्, अल्लाह, आदि शब्द वा मन्त्रोच्चार भी, प्रारम्भतः कर्णेन्द्रिय को ग्राह्य होने से शाब्दिक मूर्त ही जो है। ऐसे में, मूर्तोपासना से त्राण कहाँ?

इस अष्टांगयोगीय उपासना–पद्धति का अभिन्न अंग है यह ग्राह्योपासना। और, इसे जपाभ्यासपूर्वक प्रारम्भ करना चाहिये, "तज्जपस्तर्थभावनम्" (पा यो द–1/28)। एक ही ग्राह्य की जपाभ्यासोपासना पूर्वक संयमोपासना से सभी विघ्नबाधायें दूर हो जाती इस हेतु वैसे तो ईश्वर का सर्वोत्तम नाम ओम् भी एक सर्वसुलभ विकल्प है, वैकल्पिक साधन है, " ईश्वर प्रणिधानात् वा" "तस्य वाचकः प्रणवः" (पा यो द–1/23 एवं 27)। तथापि, "यथाभिमतध्यानात वा" (पा यो द–1/39) के सन्दर्भवश अनेक साधन और भी हैं और कोई भी प्रारम्भिक प्रशिक्षु अपनी रुचि एवं सुविधानुरूप उनमें से किसी से भी अपनी संयमोपासना का प्रारम्भ कर सकता है। और क्योंकि ग्राह्य रूपी ये साध्य–साधन तो अनेकानेक हैं। अतः यह बहुदेववाद भी है।

इस आदि–वैदिक अष्टांगयोगीय उपासना–पद्धति की एक अद्‌भुत विशेषता यह है कि इसमें साधन ही साध्य भी है। सच्ची श्रद्धावश प्रतीकों से पूजा को यदि प्रतीकों की पूजा में, (अर्थात्

साधन को ही साध्य में), न बदल लिया जाये तो ऋषिवचन "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम," (पा यो द–1/20), में विराजमान "श्रद्धा" पद की भी भला क्या सार्थकता शेष रह जायेगी? उपासना में प्रयुक्त, ग्राह्य–साधन अर्थात् मूर्त को ही श्रद्धापूर्वक साध्य अर्थात् इष्ट मानकर भी यदि संयमोपासना को सिद्ध कर लिया जाये तो उससे भी अलौकिक कैवल्यदायक ऋतम्भराप्रज्ञा नामक आध्यात्मिक लाभ ही जो प्राप्त हो जाता है, "०अध्यात्मप्रसादः," "तज्जयात्प्रज्ञालोकः" (पा यो द–1/47,3/5 क्रमशः)। योगाभ्यास के फल में संशय नहीं होना चाहिये, अभ्यास में बड़ी शक्ति है, "पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्ति" एवं "०योगाभ्यासोपदेशः" (न्याय दर्शन–4/2/41 एवं 42)।

यहाँ, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि ध्येयगत उपास्य मनुष्यकृत हैं या प्राकृतिक हैं। यथा, कृत्रिम मूसल भी पृथ्वी ही है, "पृथिवीम् त्वा पृथिव्यामा०" (अथर्ववेद–12/3/3/22)। और, इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि वे मिथ्या व काल्पनिक हैं या वास्तविक हैं। विपर्यय या विकल्प वृत्ति जनित मिथ्यावस्तु या मिथ्या–विषय से भी यदि सांसारिक विषयों में वैराग्य अथवा योगसाधना में उत्साह बनता/बढ़ता है तो वह भी अलौकिक कैवल्यदायक अक्लिष्ट वृत्ति,–(पा यो द–1/5),– ही जो है। पहले देह को ही आत्मा माना, बाद में पुत्र को आत्मा माना, बाद में इन्द्रिय को, बाद में प्राण को, बाद में मन को तथा बाद में बुद्धि या ज्ञान को आत्मा माना, इस प्रकार नेति–नेति करके त्याग से और तत्त्वाभ्यास से अन्ततोगत्त्वा आत्मसाक्षात्कारी विवेक की ही आध्यात्मिक सिद्धि जो हो जाती है, "तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेक सिद्धिः" एवं "अध्यस्तरुपोपासनात्०" (सांख्य दर्शन–3/75 एवं 4/21 क्रमशः)।

प्रसंगवश, मूर्तोपासना वेद सम्मत भी है। "न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः" (यजुर्वेद–32/3), का (स्वामी दयानन्द कृत शब्दार्थानुरूप भी) वास्तविक भावार्थ यही है कि (यद्यपि) उस (निराकार परमात्मा) की कोई मूर्ति नहीं हो सकती फिर भी उसके नाम–गुणों की जपाभ्यास उपासना, स्मरण उपासना और संयमोपासना महायशकारी कैवल्यदायक है।

एक कहावत है "बिना काया ब्रह्म कैसे बोले" अतः उस सर्वशक्तिमान से संवाद हेतु एक स्वरूप, उसके प्रतिनिधि की आवश्यकता है क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार "चेतना के किसी वस्तु पर केन्द्रीयकरण को ध्यान कहते हैं" अतः ध्यान के लिए किसी स्वरूप की आवश्यकता होती है। बिना उसके ध्यान संभव नहीं है। कभी–कभी कुछ लोग (कु) तर्क देते हैं कि जड़त्व के ध्यान से मनुष्य की बुद्धि भी जड़ हो जाती है। लेकिन चेतन स्वरूप ईश्वर अथवा गुरु के ध्यान से बुद्धि भी चैतन्य हो जाती है। देव रूप में पूजित गुरुदेव की उपासना सार्वभौमिक (जाति देशकाल समयानवच्छिन्ना (पा.यो.द.2/31) है। कठिनाई तब होती है जब मूर्तिपूजक स्वार्थलोलुप हो जाता है। अतः चित्र पूजक को अपने में सुधार लाना होगा।

आध्यात्म-चिन्तन

– श्री सुधाकर उपाध्याय

जगद्गुरु शङ्कर का यह उपदेश सार है कि मानव मात्र विचार करे "मैं कौन हूँ" नश्वर जड़ देह और आत्मा का सम्बन्ध क्या और किस लिये है?

जननी के जठर में सर्व प्रथम यह जीव ही आता है पुनः किञ्चित काल उपरान्त शरीर का निर्माण होता है और शरीर त्याग करके जीव पहले चला भी जाता है। चर्मावृत् खोल देह इस जीवात्मा का भोगायतन ही सिद्ध हुआ जिस के द्वारा अनेकों प्रकार के सुख–दुख आदि द्वन्दों का सृजन करता रहता है, शरीर के किसी अंग में पीड़ा होने पर जीवात्मा कष्ट अनुभव करता है, अच्छी वस्तुओं का उपभोग कर के जीवात्मा सन्तुष्ट भी होता है एवं शरीर के वृद्ध रोग ग्रस्त होने पर उसका उत्साह स्मृति आदि भी शिथिल हो जाते हैं इसी से "शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्" भी कहा गया है।

परन्तु वरीयता दी ही नही गई है अपितु सत्य है कि अपने साधन यन्त्र इस शरीर के द्वारा सभी प्रकार के दृश्य, श्राव्य, स्वाद वस्तुओं का उपभोग करने वाला जीव ही मुख्य वस्तु है क्योंकि जब जीवदेह त्याग कर देता है उस समय देह विकृत, घृणित और मिट्टी ही मान लिया जाता है जो सत्य है। शरीर के प्रति आकर्षण उस जीवात्मा के कारण है महान आत्मायें दुर्बल और क्षीण शरीर में निवास करके उसे पूजनीय और यशस्वी बना देती हैं। जीव यदि शरीर का दास हो जाता है तो वह अविवेकी मान लिया जाता है प्रमाण में मानस की यह चौपाई है–

सेवहिं लखन सीय रघुवीरहि।
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं।।

यह जीवात्मा क्या है– जिस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिकों ने परमाणुओं को विखंडन करके अनेक गुप्त शक्तिओं का अनुसन्धान किया है उसी तरह विज्ञानी महर्षियों ने बड़े ऊहापोह के बाद विश्लेषण करके सूक्ष्म चेतन अन्तः करण में निवास करने वाले परम पुरुष को जीव माना है श्री मद्भागवत का पुरञ्जयोपाख्यान रूपक से यह बात सिद्ध होती जाती है। सूक्ष्म शरीर या चेतन अन्तःकरण चार अंगों से बना है इन्हीं चारों की सहायता से जीवात्मा अनेक प्रकार के भोगों को भोक्ता और अनेक कार्यो को करता हुआ कर्त्ता बना हुआ है. सब से पहले चित्त की चिन्तन किये वस्तुओं को मन संकल्प करके प्राप्ति की चेष्टा करता है बुद्धि की सहायता से अहं कर्त्ता अहं भोक्ता का भाव बनाता है, कभी भोगासक्त हो आवागमन के चक्रजाल में फंसता है तो कभी योग रत हो उस जाल से छूटने का प्रयास करता है। इस प्रकार संकल्पों से प्रारब्ध रूपी संस्कारों को जो गत जन्मों की विरासत रूप में भोगा करता है और नये संकल्पों द्वारा विविध

शरीर धारण करता है। कुत्सित संकल्प न हों अतः यजुर्वेद में प्रार्थना है कि "हे प्रभो! तन्मे मन शिव–संकल्पमस्तु" अर्थात् यह हमारा मन शुभ–संकल्प वाला होवे। शुभ संकल्प से मेरे विचार शुद्ध तथा कल्याणकारी होंगे तथा कार्य पुण्य जनक होने से मानव जन्म सार्थक होगा। यदि मन बुद्धि के अधीन कर दिया जाय तो वह शुभ संकल्प वाला हो जाता है क्योंकि बुद्धि की सहायता ज्ञानेन्द्रियाँ करती है और वह निर्णयात्मिका है परन्तु मन की सहायता कर्मेन्द्रियाँ करती हैं और वह संकल्प विकल्पवाला है। विकल्पों के द्वारा वह अच्छे और अशुभ कर्मो का निर्णय नहीं कर पाता।

संसार के प्राणी मात्र की यह उत्कट अभिलाषा रहती है कि हम सदा सफलता प्राप्त करें और तथा शान्तिमय जीवन यापन करें। परिणाम दोनों का एक ही है और दोनों ही एक वस्तु से ही प्राप्ति भी की जाती हैं इस रहस्य की कुंजी मन और प्राण शक्ति के एकीकरण में है। मन की एकाग्रता तथा प्राणशक्ति की सहायता मिल जाने पर शान्ति और सफलता अनायास मिल जाती है। चाहे लौकिक कार्य हो या पारलौकिक पुरुषार्थ– इसी का नाम योग है इससे ही दिव्य आत्मायें चित्त वृत्ति के निरोध के लिये प्राणायाम तथा धारणा–ध्यान का आश्रय लेती हैं। मन के एकाग्र होने पर प्राण शक्ति द्वारा हमारे श्वास पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक पहुँच सकते हैं और उस महा प्रकाश से सम्बन्ध स्थापित कर सकते है जहाँ से सभी कीरी–कुंजर को प्रकाश मिलता है।

यह मन चञ्चल क्यों है? इसमें चंचलता कहाँ से आई? हम चक्षु इन्द्रिय द्वारा देखते हैं, कानों से सुनते हैं, नासिका से गन्ध ग्रहण करते हैं, रसना से स्वाद लेते और त्वचा से स्पर्श करते हैं, इन्द्रियों के विषयों द्वारा हमारे मानस पर विविध विचार बनते रहते हैं विचारों के अनुसार ही हमारे मन के द्वारा संकल्प होता है, इन्हें प्राप्त करने पर सुख प्राप्त न करने पर दुख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि के द्वारा शुभाशुभ वासनाओं का अम्बार मस्तिष्क में अमिट छाप की तरह पड़ जाता है इन्हीं को हम संस्कार कहते हैं कभी अच्छे कर्म करने वाले भी दुखी देखे जाते है और बुरे तथा क्रूरकर्मी सुखी देखे जाते हैं, कभी सुसगति में रहकर भी हम जघन्य काम कर बैठते हैं और कुसगति में पड़ कर भी भक्त और दैवी सम्पत्तियों से युक्त बन जाते हैं इनमें उनके संस्कार ही सहायता करते हैं अपितु ऐसा संस्कारों का ही यह खेल है। इस प्रकार चित्त–वृत्तियों की यह घुड़दौड़ अहर्निश होती रहती है जिससे चित्त–वृत्तियाँ बहिर्मुखी बनकर आत्मा का शुभ्र प्रकाश चेतना अन्त करणा पर नहीं पड़ने देकर वह मलीन और धुँधला ही बना रहता है, इस काई को हटाने के लिए ही शास्त्र तथा उससे अनुमोदित कार्य है परन्तु सब मिथ्या ही है–

रजत सीप मह भास जिमि,
यथा भानु कर वारि।
यद्यपि मृषा तिहूँ कालमह,
भ्रम न सकै कोउ टारि।।

सन्त तुलसी की वाणी है–जैसे सीप में चाँदी का भ्रम और सूर्य–किरणों में जल का भ्रम है उसी तरह यह संसार सब का सब भ्रम ही है और मिथ्या है। विचारणीय यह है कि पर छाही प्रतिध्वनि और सीपी में मिथ्या भ्रम होने पर भी उससे भय, कम्प तथा चाँदी की भावना का संचार हो जाता है उसी तरह देहादि मिथ्या वस्तुओं में भी अज्ञानियों को सत्य की प्रतीति होती है ज्ञानी इसे असत्य ही मानते हैं, इस मिथ्या भ्रमको हटाने के लिये हमें सुयोग्य, पूर्णाशक्तिमान सद्गुरु की शरण लेनी चाहिए जो इस संसार के भ्रम तथा पूर्णा सत्ता से मिल एकाकार हो गया हो जिसके संसर्ग मात्र से ही हमारे मानस में दिव्य अनुभूतियाँ होने लगें। उसके बताये पथपर चलने से अभ्यास करने पर स्वतः मन एकाग्र होता जायगा। काई कटती जायगी और दिव्य प्रकाश की रेखा दीखने लग जायगी।

अभ्यास साधन का तथा वैराग्य संसार से। बिना संसार से वैराग्य हुए साधना का अभ्यास भी दुष्कर है क्योंकि मन जहाँ निरन्तर रही है उधर ही जाना चाहता है अतः राजयोग इसका सर्वोत्तम मार्ग है। इस विषयी मन को भगवत् चरणारविन्दों में लगा देने से गुरुदेव के पूजन आरती में संलग्न करा देने से कर्म जनित कुत्सित संस्कार स्वतः नष्ट होने लगेंगे, उपनिषद् का यह रूपक प्रसिद्ध है। आत्मारूपी रथी देहरूपी रथ पर सवार है इन्द्रियाँ घोड़े है जो रास्ते पर चल रहे हैं।

अतः मन रूपी सारथी रथी को कहीं कुपथ पर न ले जाय, सांसारिक विषय न देकर परमेश्वर की ओर उसका बागडोर मोड़ देने की आवश्यकता है। यदि हम जिसे अपना मानते हैं तथा जिसे अपना न मान कर पराया मानते हैं सब में परमात्मा बुद्धि बना लें तो रथ सुपथ पर ही चलता रहेगा। जप–तप–सत–संयम नियमादि सब इसी मार्ग के लिए साधन हैं परन्तु यह भी विवेकमय होना चाहिए यदि विवेकहीन तप हुआ तो इस के द्वारा साधक का कल्याण नहीं होता, वृन्दान ने श्री राम जी से कहा कि नाथ रावण एक यज्ञ कर रहा है यदि पूर्ण हो गया तो वह नहीं मर सकता प्रभु के द्वारा उस यज्ञ का विध्वंसकर दिया गया, क्यों? वह विवेकहीन न था उसके द्वारा वह संसार को वश में करना चाहता था, उत्पीड़न और कष्ट उसके परिणाम थे। अतः ज्ञसन की दो श्रेणियां हैं (1) वाचिक ज्ञान (2) अनुभव जन्म ज्ञान – इनमें अनुभव ज्ञानी महात्माओं के संसर्ग को पाकर पूर्ण सद्गुरु कर्णधार को पाकर अपना उद्धार कर लेना चाहिए।

नृदेह माद्यं सुलभं सुदुर्लभं,
प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारम्।
भयानुकूलेन नमस्व तेरितं,
युमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।।

मनुष्य शरीर, गुरु कर्णधार भगवत्कृपा रूपी वायु को पाकर जो अपना उद्धार कर ले वह आत्म–हत्यारा ही है।

पाठ से नहीं, पुरुषार्थ से गाड़ी चली

यदि मनुष्य का स्वयं का कुछ किया हुआ न हो तो स्वयं विधाता भी उसकी सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि सृष्टि का विधान अटल है। जिस प्रकार विधान बनाने वाले विधायकों को स्वयं उसका पालन करना पड़ता है, वैसे ही ईश्वरीय अवतार और महापुरुष तो क्या स्वयंभगवान भी अपने बनाए विधानों का उल्लंघन नहीं कर सकते। इससे तो उनका सृष्टि संचालन ही अस्त-व्यस्त हो जायेगा। इस संबंध में उन लोगों को सचेत होकर अपना कर्म करना चाहिये जो सोचते हैं कि भगवान सब कर देंगे और स्वयं हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें।

एक आदमी श्री हनुमान का उपासक था। एक बार वह बैलगाड़ी लिए कहीं जा रहा था। गाड़ी कीचड़ में फंस गई, वह वहीं खड़ा होकर हनुमान चालीसा का पाठ करने लगा और गाड़ी बाहर निकालने की कामना करने लगा। तभी उधर से आए एक पण्डित जी ने कहा - मित्र ! हनुमान जी संजीवनी का पता न चलने पर पहाड़ ही उखाड़ लाए थे, तुम कम से कम गाड़ी को हाथ तो लगाओ। आदमी ने थोड़ी ताकत लगाई और बैलगाड़ी बाहर खींच ले गया।

देवता हों या महापुरुष वे तब तक फल नहीं देते, जब तक मनुष्य स्वयं उन आदर्शों के परिपालन के लिए समुद्यत नहीं होता। कर्म विधान पर भी यही सिद्धान्त लागू होता है। ईश्वर उनका फल तब दे जब मनुष्य को बलवान बनाए, याचना भाव नहीं समर्पण भाव बढ़ाये।

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तो का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।

(श्रीमद्भगवद्गीता)

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट (च्युत) हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है। हे धनंजय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों का परमात्मा में, अर्पण कर दिया है, जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है ऐसे वश में किए हुए अन्तःकरण वाले पुरुष को कर्म नहीं बाँधते।

संस्थापक:– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दाससलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दाससलाल शर्मा